कोविद-कीर्तन

लेखक
महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२७

प्रथम संस्करण] [मूल्य १)

निवेदन

इस संग्रह में चुने हुए १२ विद्वानों के संक्षिप्त जीवन-चरित सन्निविष्ट हैं। उनमें से केवल एक—आचार्य्य शीलभद्र—प्राचीन और अवशिष्ट सभी अर्वाचीन विद्वानों के हैं। ये सभी चरित काल-क्रम के अनुसार, एक के अनन्तर एक, रक्खे गये हैं। अर्थात् जिसका प्रकाशन पहले हुआ है वह पहले और जिसका पीछे हुआ है वह पीछे रक्खा गया है। कारण यह है कि ये चरित, समय-समय पर, अधिकांश चरितनायकों की निधन-वार्ता विदित होने पर, लिखे गये हैं। अतएव इनका बहुत कुछ सम्बन्ध समय से है। कौन चरित कब "सरस्वती" में प्रकाशित हुआ, यह बात प्रत्येक लेख के नीचे लिख दी गई है।

काल-क्रम के अनुसार लेखों को इस संग्रह में रखने का एक और भी कारण है। इसके कोई-कोई लेख बहुत पुराने—पचीस-छब्बीस वर्ष से भी अधिक पुराने—हैं। उन्हें पढ़ने से पाठकों को यह मालूम हो जायगा कि जिस समय के वे लेख हैं उस समय हिन्दी की लेखन-शैली कैसी थी और अब कैसी है। उस समय की शैली की तुलना आजकल की शैली से करने पर दोनों के गुण-दोषों का निर्णय करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

विद्वानों, महात्माओं और नामाङ्कित साहित्य-सेवियों के जीवन-चरित कभी पुराने नहीं होते, क्योंकि उनसे जो शिक्षा मिलती है वह सदा ही एक सी मिला करती है। राम और कृष्ण, व्यास और वाल्मीकि, कालिदास और अश्वघोष, सूरदास और तुलसीदास का चरितगान जैसे सौ-दो सौ वर्ष पहले बोधवर्द्धक था वैसे ही आज भी है और आगे भी बना रहेगा। जो बात प्राचीनों के विषय में चरितार्थ है वही नवीनों के विषय में भी चरितार्थ है। उनके चरितानुशीलन से मनोरञ्जन और लाभग्रहण की मात्रा में कुछ कमी चाहे भले ही हो, पर उनका पाठ सर्वांश में व्यर्थ कभी नहीं हो सकता।

इस पुस्तक में जिन पुण्यशील पुरुषों के चरितों का संग्रह है उनके सांसारिक जीवन, उनके विद्वत्व, उनके स्वभाव-वैचित्र्य, उनके कार्य-कलाप, उनके लेखन-कौशल और उनके ग्रन्थ-निर्म्माण आदि से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञानार्जन से उत्साहवान्, महत्वाकांक्षी और अनुकरण-प्रेमी सज्जन बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। शर्त यह है कि इच्छाशक्ति की कमी उनमें न हो। क्योंकि इच्छा होने और उद्योग करने ही से मनुष्य सद्गुणों की प्राप्ति में समर्थ हो सकता है।

दौलतपुर, रायबरेली,
१३ जुलाई १९२७

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

कोविद-कीर्तन

१—वामन शिवराम आपटे, एम० ए०

आपूर्णश्च कलाभिरिन्दुरमलो यातश्च राहोर्मुखम् ।

—मालतीमाधव

इस ओर के शिक्षित पुरुषों में से जिन्होंने किसी स्कूल अथवा कालेज में शिक्षा पाई है वे तथा संस्कृत से प्रेम रखनेवाले अन्य लोग भी आपटेजी से अवश्य परिचित होंगे। आपटे-कृत "संस्कृत-गाइड" और "संस्कृत-अँगरेज़ी" तथा "अँगरेज़ी-संस्कृत" कोश इत्यादि ग्रन्थ इतने प्रसिद्ध हो रहे हैं कि प्रत्येक विद्या-रसिक के पुस्तक-संग्रह अथवा पुस्तकालय में उनको सादर स्थान दिया गया है। कुटिल काल ने ऐसे लोक-विश्रुत विद्वान् की वही गति की जो भवभूति की शिरोलिखित उक्ति में दिखलाई गई है। षोडश कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा का ग्रास राहु ने कर लिया। वामनराव को भी, विद्या की पूर्ण कलाओं से विभूषित होते ही, काल ने अपनी कुक्षि में सन्निवेशित कर लिया। उनका पूर्ण अभ्युदय होते ही वे इस नश्यमान संसार की असारता का उदाहरण हो गये।

विद्वानों को अल्पायु होते देख भर्तृहरि को भी खेद हुआ था। उन्होंने कहा है कि पहले तो ब्रह्मा पुरुष-रत्न निर्माण ही नहीं करता और यदि करता है तो उनके शरीर को क्षण-भङ्गुर बना देता है। इस मूर्खता का कहीं ठिकाना है?

"अहह कष्टमपण्डितता विधेः"

परन्तु कोई-कोई महात्मा इतने तेजस्वी होते हैं कि अपनी अल्पकालिक स्थिति ही में वे ऐसे-ऐसे अपूर्व काम कर जाते हैं जो साधारण मनुष्यों से, सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहने पर भी, पूर्ण नहीं हो सकते। सायङ्काल और प्रभात की शोभा यद्यपि क्षणमात्र ही दृग्गोचर होकर लोप हो जाती है, तथापि वह उतने ही समय में लोगों को अलौकिक आनन्द दे जाती है। अँगरेज़ी कवि ब्यन जानसन् ने कहा है—

In small proportions we just beauties see;
And in short measures life may perfect be.

सतारा ज़िले में सावन्तवाड़ी नामक एक स्थान है। उसके अन्तर्गत आसोलीपाल नामक ग्राम में, सन् १८५८ ईसवी में, वामनराव का जन्म हुआ। वामनराव जब तीन ही वर्ष के थे तभी उनके पिता शिवरामरावजी आपटे ने अपनी जीवन-लीला संवरण की। वामनराव के पिता के मरने पर उनकी विधवा माता अपने लड़कों को लेकर जीवन-निर्वाह के निमित्त कोल्हापुर आई। वहाँ भी उस साध्वी का पीछा दुर्दैव ने न छोड़ा। कोल्हापुर में उसके एक १५ वर्ष के पुत्र को

निर्घृण मृत्यु ने उदरसात् कर लिया। पति भी गया; एक पुत्र भी गया! इस दुःख-परम्परा को वामनराव की माता न सहन कर सकी। शोकाकुल होकर, वहीं कोल्हापुर में, वह भी अपने पति और पुत्र की अनुगामिनी हो गई। आठ ही वर्ष के वय में वामनराव निराश्रय और अनाथ हो गये। पिता भी नहीं! माता भी नहीं!!

अनाथों का नाथ ईश्वर है। निराश्रयों का आश्रय भी वही है। वामनराव यद्यपि माता-पिता-हीन हो गये, तथापि वे अकारण-कारुणिक परम पिता जगदीश्वर के पूर्ववत् वात्सल्य-भाजन बने रहे। उसी ने उन पर अपना वरद-हस्त रखकर, और इस अपरिमेय दुःख को सहन करने की शक्ति देकर, उनको धैर्य धारण करने में समर्थ किया।

दक्षिण में दरिद्र ब्राह्मणों के लड़के—विशेषतः विद्यार्थी—भिक्षा से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। वामनराव को भी यह वृत्ति अवलम्बन करनी पड़ी। पौराणिक वामनजी की वृत्ति को स्वीकार करने के लिए, दुर्दैव द्वारा इस प्रकार विवश किये जाने पर, वामनराव ने अपने वामन नाम को सार्थक कर दिया। आठ ही वर्ष के वय से भिक्षाटन से उदर-पूर्ति करते हुए वामनराव ने विद्या-सम्पादन करना आरम्भ किया। दो, तीन वर्ष में मराठी भाषा भली भाँति सीखकर वे कोल्हापुर की अँगरेज़ी पाठशाला में प्रविष्ट हुए। वहाँ जाने पर उनकी वृत्ति वही बनी रही। उसमें अन्तर न पड़ा। उनको

गणित और संस्कृत पर बड़ा अनुराग था। इन विषयों में वे अपने सहपाठियों की सहायता करते थे और उनको प्रसन्न करके उनकी पुस्तकें माँगकर अपना काम चलाते थे। पुस्तकों की भी भिक्षा! वस्त्र की भी भिक्षा!! अन्न की भी भिक्षा!!! भिक्षा ही पर उनका जीवन अवलम्बित था। ऐसी विपन्न दशा में रहकर भी वामनराव ने बड़े परिश्रम से विद्याध्ययन में चित्त लगाया। वे इतने कुशाग्र बुद्धि थे कि अपनी कक्षा में उनका सदैव उच्चासन रहता था। वामनराव को, अपने सहाध्यायी लड़कों को संस्कृत और गणित सिखलाते देख, उनके प्रधान शालाध्यापक ने उनसे कहा था कि "वामन! तू एक प्रसिद्ध अध्यापक होगा!" यह भविष्यद् वाणी सत्य निकली।

१८७३ ईसवी में वामनराव एन्ट्रन्स (Matriculation) परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उस समय उनका वय केवल १५ वर्ष था। इस परीक्षा में उन्होंने, संस्कृत में, ऐसी प्रवीणता दिखलाई कि उनको २५ रुपये की छात्रवृत्ति मिली। इस समय उनको, अपनी चिर-परिचित भिक्षावृत्ति को, नमस्कारपूर्वक, बिदा करना पड़ा। तदनन्तर वामनराव ने डेकन कालेज में प्रवेश किया और १८७५ में एफ़० ए०, १८७७ में बी० ए० और १८७९ में (२१ वर्ष के वय में) एम० ए० में उन्होंने उत्तीर्णता प्राप्त की। जिस वर्ष वे एफ़० ए० की परीक्षा में सफल हुए उस वर्ष से उनको कई छात्र-वृत्तियाँ मिलने लगीं। एम० ए० की परीक्षा में वामनराव ने ऐसी योग्यता

दिखलाई और इतने सम्मान-सहित वे उत्तीर्ण हुए कि उनको उस उपलक्ष में ४०० रुपये का पारितोषिक मिला।

वामनराव का विवाह, पूना-निवासी गणेश वासुदेव जोशी की कन्या से, १८७७ ईसवी में हुआ। गणेश वासुदेव एक सर्वप्रिय, सर्वमान्य और धनी पुरुष थे। उन्होंने वामनराव की अकिञ्चनता का किञ्चित्-मात्र भी विचार न करके केवल उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और सदाचरण पर लुब्ध होकर अपनी कन्या उनको समर्पित की। इससे व्यक्त होता है कि गणेश वासुदेव ने विद्या के सम्मुख और बातों को तुच्छ समझा। वामनराव की पत्नी यद्यपि एक धनी के घर की थी तथापि ऐसा सद्गुणी पति पाकर उसको वामनराव की निर्धनता, स्वप्न में भी, दुःखदायिनी न हुई; उलटा उसने, इस संयोग से अपने को परम भाग्यशालिनी माना। सुनते हैं, वह रूपवती न थी; तथापि पति और पत्नी दोनों ने अपने-अपने सद्गुणों से एक दूसरे को ऐसा मोहित कर लिया था कि परस्पर कभी कलह, मतद्वैध अथवा किसी प्रकार का अप्रिय व्यवहार नहीं हुआ। वामनराव को इस पत्नी से दो कन्यायें हुईं और एक पुत्र भी हुआ। परन्तु, खेद है, पुत्र नहीं रहा। कन्या भी, शायद, एक ही इस समय जीवित है।

दक्षिण में विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूनकर बड़े विद्वान् हो गये हैं। उनके कई मराठी-निबन्धों का हिन्दी-अनुवाद नागपुर-निवासी पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने किया

है। उसके द्वारा शास्त्रीजी की विद्वत्ता और उनके नाम से हिन्दी के प्रायः सभी प्रेमी परिचित हो गये हैं। वे संस्कृत और अँगरेज़ी दोनों भाषाओं के ज्ञाता थे और मराठी में "निबन्धमाला" नामक मासिक पुस्तक निकालते थे। वे पाठशाला में अध्यापक थे। परन्तु कई कारणों से उनकी "निबन्धमाला" के निकलने में प्रतिबन्ध होने लगा। अतएव दास्यरूपी रजत-शृङ्खला उन्होंने तोड़ डाली और स्वतन्त्र होकर देशोपकार करने पर कटिबद्ध हुए। उन्होंने अपने मित्र गोपाल गणेश आगरकर, एम० ए० और बालगङ्गाधर तिलक बी० ए० की सहायता से "न्यू इँगलिश स्कूल" नामक एक पाठशाला स्थापित की। वामनराव आपटे भी, विष्णु शास्त्री की भाँति पहले अध्यापक हो गये थे; परन्तु उन्होंने भी सरकारी नौकरी छोड़ दी। उसे छोड़कर वे भी अपने इस मित्रत्रितय के साथी हुए। १८८० ईसवी में यह पाठशाला स्थापित हुई। इसी के साथ "केसरी" और "मराठा" नामक दो पत्र भी निकलने लगे। पहला मराठी में और दूसरा अँगरेज़ी में। "केसरी" में प्रायः विष्णु शास्त्री के लेख निकलते थे और "मराठा" में वामनराव आपटे के। इन पत्रों के ऊपर १८८२ ईसवी में कोल्हापुर के एक प्रतिष्ठित पुरुष ने मानहानि का अभियोग चलाया। उसका फल यह हुआ कि आगरकर और तिलक को कारागार-सेवन करना पड़ा। इस घटना से यह सिद्ध हुआ कि आगरकर, आपटे, तिलक, चिपलूनकर और पाँचवें नामजोशी—

इन पाँचों मित्रों की आत्मा एक थी; शरीर-मात्र पृथक् था। लेख लिखा औरों ने, परन्तु उसका दुष्परिणाम भोगा दूसरों ने! जिस वर्ष यह घटना हुई उसी वर्ष, अर्थात् १८८२ ईसवी में, विष्णु शास्त्री चिपलूनकर इस लोक से चल बसे। इन कारणों से यह शङ्का उत्पन्न हुई कि "न्यू इँगलिश स्कूल" भी अब अस्त हो जायगा। परन्तु ऐसा न हुआ। वामनराव ने ऐसी कार्य-दक्षता दिखलाई कि स्कूल का बन्द होना तो दूर रहा, उलटा उसका उत्कर्ष प्रतिदिन होने लगा।

"न्यू इँगलिश स्कूल" का अध्यापक-वर्ग ऐसा कार्य-पटु, विद्वान्, चतुर और परिश्रमी था कि स्कूल की परीक्षाओं का फल बहुत अच्छा होने लगा और उसकी ख्याति प्रति दिन बढ़ने लगी। इस पाठशाला का यहाँ तक उत्कर्ष हुआ कि १८८५ ईसवी में यह कालेज कर दी गई और "फ़र्गुसन-कालेज" इसका नाम हुआ। तब से वामनराव इस कालेज के प्रधान शिक्षक नियत हुए। भिक्षारत बालक वामन, प्रिन्सपल वामन शिवराम आपटे, एम० ए०, कहलाया जाने लगा।

१८८५ से १८९२ ईसवी तक वामनराव ने "फ़र्गुसन-कालेज" की प्रधानाध्यक्षता बड़ी ही दक्षता से निबाही। उनके प्रयत्न से कालेज की अधिकाधिक उन्नति होती गई। उनकी शिक्षण-पद्धति बहुत ही प्रशंसनीय थी। उनसे उनके छात्र सदा प्रसन्न रहते थे। विशेषत: जब वे संस्कृत के काव्यों और नाटकों की मीमांसा करने लगते थे तब उनके विवेचन से उनके विद्या-

र्थियों को पराकाष्ठा का आनन्द होता था और विवेचित विषय उनके हृत्पटल में तत्काल अङ्कित सा हो जाता था।

इस प्रकार १२ वर्ष-पर्यन्त अपनी अपूर्व अध्यापन-शक्ति से महाराष्ट्र-देश को उत्तम शिक्षा प्रदान करके अकाल ही में वामनराव ने परलोक के लिए प्रस्थान कर दिया। ९ अगस्त १८९२ को, अर्थात् केवल ३४ वर्ष के वय में, वे अल्पायु हो गये। महाराष्ट्र-देश का एक अलौकिक रत्न खो गया। संस्कृत का अनन्यभक्त सर्वदा के लिए तिरोहित हो गया। उनकी मृत्यु से उनके मित्र-मण्डल और छात्र-वर्ग को ही नहीं, किन्तु महाराष्ट्र-देश भर को असह्य दुःख हुआ। जस्टिस तैलङ्ग, डाक्टर भाण्डारकर, तथा डेक्कन-कालेज और एलिफ़न्स्टन्-कालेज के प्रिन्सपल ने भी बहुत शोक प्रकट किया। यहाँ तक कि बम्बई के गवर्नर, लार्ड हैरिस, तक ने उनके गुणों की प्रशंसा करके खेद प्रदर्शित किया*।

---

* लार्ड हैरिस ने पूना-निवासियों से कहा—

Death has been busy here in the city and cantonments this last month; and amongst those whom you have to mourn, none, I fancy, has passed away with more sincere and deeper feelings of regret than Mr. Apte. I beg very respectfully to join with you in those feelings. I know what Mr. Apte was doing for education here. I know what a labour of love it has been

आपटे ने "संस्कृत-अँगरेजी" और "अँगरेजी-संस्कृत कोश", "संस्कृत-गाइड", "प्राग्रेसिव एक्सरसाइजेज़" और "कुसुम-माला" नामक कई पुस्तकें लिखी हैं। उनका बनाया हुआ कोश बहुत ही उपयोगी है। इस कोश की प्रशंसा बड़े-बड़े विद्वानों ने की है। उनके "संस्कृत-गाइड" की भी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। उसमें आपटे ने अपने असाधारण संस्कृत-ज्ञान का अच्छा नमूना दिखलाया है। इस ग्रन्थ के प्रसाद से, संस्कृत-भाषानुरागी अनेक विद्यार्थिगण, इस समय, अपरिमेय लाभ उठा रहे हैं। "संस्कृत-गाइड" आपटे की संस्कृत-पारदर्शिता का आदर्श है। संस्कृत-साहित्य में जितने अच्छे-अच्छे ग्रन्थ हैं सबसे यथेष्ट वाक्यों का उद्धरण करके, उनके द्वारा, इसमें व्याकरण के नियमों की सिद्धता दिखलाई गई है।

---

to him to extend the efforts of educational association with which he was connected, and how successful that labour has been. We can ill-spare such enthusiasts, but we must bow before the greater wisdom of the Almighty. I name Mr. Apte in connection with that doctrine of self-help which I am taking the liberty to inculcate, because I believe him to be a notable instance of a man raising himself to the highest level in his own line by the unaided determination of his character and his self-confidence in his power to succeed.

शब्दशास्त्र में आपटे की विलक्षण गति थी। पाणिनि के "शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन्" इस सूत्र पर, सिद्धान्त-कौमुदी में, भट्टोजी दीक्षित ने कहा है—

अर्थग्रहणमस्तिनैव संबध्यते। अनन्तरत्वात्।

दीक्षित के इस कथन का, आपटे ने, अपने "संस्कृत-गाइड" के 'तुम्' प्रत्यय (Infinitive mood) प्रकरण में, सप्रमाण और सयौक्तिक खण्डन किया है। यह पुस्तक इतनी उपयोगी और सर्वप्रिय है कि थोड़े ही समय में इसकी कई आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं।

दारिद्र्यग्रस्त होकर भी अभिरुचि होने से मनुष्य उच्च से उच्च विद्या सम्पादन कर सकता है और अपनी विद्वत्ता के बल पर वह अलौकिक प्रतिष्ठा-भाजन भी हो सकता है। आपटे के चरित्र से यही शिक्षा मिलती है।

[जनवरी १९०१

२—विष्णु शास्त्री चिपलूनकर

गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते
जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ।*

—भारवि

साहित्य के जितने अङ्ग हैं उनमें इतिहास प्रायः सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। परन्तु किसी किसी का मत है कि जीवनचरित का महत्त्व इतिहास से भी बढ़कर है। जीवन-चरित से मनोरञ्जन भी होता है; व्यवहारज्ञान भी होता है; चरित-नायक के उत्कर्ष के कारणों का विचार करके उसके गुण-ग्रहण करने का उत्साह भी बढ़ता है; और साथ ही उसके किये हुए प्रमादों से बचने की सद्बुद्धि भी मनुष्य में सहज ही उत्पन्न होती है। सद्गुण किसी देश-विशेष अथवा जाति-विशेष में नहीं वास करते। सब देशों में और सब जातियों में सद्गुणी मनुष्य और स्त्रियाँ हुआ ही करती हैं। यह ईश्वरीय नियम है। सद्गुणी पुरुष चाहे जिस देश का हो, और चाहे जिस जाति का हो उसके चरित से शिक्षा अवश्य ही मिलती है। अतएव जो लोग किसी जाति-विशेष के पुरुषों से घृणा करते हैं, अथवा उनके चरित पर अनास्था प्रकट करते हैं, उनको अपने संकुचित

* जिस पुरुष में गुणाधिक्य होता है उसी पर सब लोग अनुरक्त होते हैं और जनानुराग ही की कृपा से सम्पदाओं की प्राप्ति होती है।

हृदय से इस प्रकार के विचार दूर कर देने चाहिए। किसी के जीवन-चरित को पढ़कर उससे लाभ उठाने का यत्न करना उचित है। यदि किसी बङ्गाली के, अथवा महाराष्ट्र के, अथवा मदरासी के, अथवा अँगरेज़ के अथवा और किसी अन्य जाति या देश के पुरुष से हमको अधिक उपदेश मिलने की आशा हो तो हमको उचित है कि हम आदरपूर्वक उसके चरित को पढ़ें, उस पर विचार करें और उससे लाभ उठावें। जिस प्रान्त में जो रहता है उस प्रान्त के सत्पुरुषों की चरितावली पढ़ने की ओर उसकी विशेष प्रवृत्ति होती है। ऐसा होना स्वाभाविक है और स्वदेश-प्रीति का लक्षण भी है। परन्तु उसके साथ ही दूसरी जाति अथवा दूसरे देश के सद्गुणी पुरुषों के जीवन की घटनाओं का वृत्तान्त सुनने और उनसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए भी उसे सर्वदा सज्ज रहना चाहिए, क्योंकि ऐसे चरितों के परिशीलन से निन्द्य नाटक और असत्य-मूलक कहानियों की अपेक्षा, सहस्रगुणित लाभ होने की सम्भावना रहती है। लार्ड बेकन ने अपनी एक पुस्तक में जीवनचरित लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता बतलाई है, और उसकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। उसके लेख का कुछ अंश हम नीचे अँगरेज़ी में उद्धृत करते हैं—

But lives, if they be well-written, propounding to themselves a person to represent, in whom actions—both greater and smaller, public and

private, have a commixture, must of necessity contain a more true native and lively representation—Advancement of learning.

जो मनुष्य स्वतन्त्रताप्रिय है; जिसमें अपने देशवासियों के कल्याण की इच्छा सर्वदा जागृत है; जो अपनी मातृ-भाषा से निःसीम प्रेम रखता है वह धन्य है। वह अवश्य सब का प्रेम-भाजन होता है; उसे सब लोग अवश्य आदर की दृष्टि से देखते हैं; उसकी विमल कीर्ति का अवश्य प्रसार होता है और उससे जनसमूह को लाभ भी अवश्य ही पहुँचता है। स्वतन्त्रता, मातृ-भाषा का प्रेम और लोकोपकार, इन तीनों में से एक भी गुण जिस पुरुष में वास करता हो, वह भी सर्वसाधारण के आदर का पात्र होता है। फिर, जिसमें ये तीनों ही गुण पूर्ण-रूप से विद्यमान हों, उसके जन्म से उसके देशवासी अपने देश को धन्य और अपने को कृतार्थ मानें तो क्या आश्चर्य! विष्णु शास्त्री चिपलूनकर, जिनका संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है, ऐसे ही थे। उनमें ये तीनों गुण एक ही साथ जागरूक थे।

दक्षिण में रत्नागिरी ज़िले के अन्तर्गत चिपलून नामक एक क़सबा है। विष्णु शास्त्री के पूर्वज पहले वहीं के निवासी थे। इसी लिए उनका उपनाम चिपलूनकर पड़ गया। वे दाक्षिणात्य कोकणस्थ ब्राह्मण थे। पूना के पेशवाओं के द्वारा विद्वानों का जब विशेष आदर होने लगा तब उनके पूर्वज चिप-

लून से पूने चले आये और वहीं रहने लगे। उनके पिता का नाम कृष्ण शास्त्री था। कृष्ण शास्त्री पहले थोड़ी सी वेद-विद्या सीखकर विश्राम-बाग़ में नवीन स्थापित हुई एक पाठशाला में न्याय और साहित्य पढ़ने लगे और थोड़े ही दिनों में इन दोनों शास्त्रों में उन्होंने दक्षता प्राप्त कर ली। उस पाठशाला में मोर शास्त्री नामक एक महाविद्वान् पण्डित थे; उन्हीं से कृष्ण शास्त्री अध्ययन करते थे। कृष्ण शास्त्री की कुशाग्रबुद्धि और विद्या-प्रियता को देखकर मोर शास्त्री ने उन्हें "बृहस्पति" की पदवी दी थी। संस्कृत का अभ्यास समाप्त करके कृष्ण शास्त्री ने अँगरेज़ी पढ़ना आरम्भ किया और उसमें भी शीघ्र ही बहुत कुछ प्रवेश पाकर शिक्षा विभाग में वे शिक्षक का काम करने लगे। उस समय तक उनकी धन-सम्बन्धी दशा अच्छी न थी। परन्तु जब से शिक्षक का काम उनको मिला तब से उनकी वह दशा सुधर गई और वे सुख से कालक्षेप करने लगे। उन्होंने अपना काम ऐसी योग्यता से किया कि बहुत शीघ्र उनकी उन्नति हो गई। कुछ दिनों में शिक्षकों को शिक्षा देने की "ट्रेनिंग स्कूल" नामक पाठशाला में वे अध्यापक नियत किये गये। अधिकारियों को कृष्ण शास्त्री की योग्यता और विद्वत्ता का साक्ष्य मिलते ही उन्होंने उन्हें मराठी-भाषा के समाचारपत्रों और पुस्तकों का रिपोर्टर नियत किया, जिस काम को उन्होंने बड़ी ही चतुरता से सम्पादन किया। "शालापत्रक" नामक एक सामयिक पत्र भी वे पाठशालाओं के लिए सरकारी आज्ञा से

निकालने लगे। यह पत्र बहुत दिनों तक प्रचलित रहा; परन्तु अन्त में उनके सुयोग्य पुत्र, विष्णु शास्त्री, के कारण बन्द हो गया। क्यों बन्द हो गया, इसका कारण हम आगे चलकर बतलावेंगे।

१८५० ईसवी में विष्णु शास्त्री का जन्म हुआ। उनके पिता कृष्ण शास्त्री ने पहले उनको पूने के 'इन्फ़ैण्ट स्कूल' में पढ़ने भेजा। वहाँ कुछ दिन रहकर हरिपन्त नामक एक पण्डित की पाठशाला में वे मराठी पढ़ने लगे। वहीं उन्होंने दो-एक पुस्तकें अँगरेज़ी की भी सीखीं। तदनन्तर वे पूने के गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में भरती हुए और अँगरेज़ी का अभ्यास करने लगे। १८६६ ईसवी में, अर्थात् जिस समय विष्णु शास्त्री का वय केवल १५ वर्ष का था, उन्होंने प्रवेशिका (इन्ट्रेन्स) परीक्षा पास की और पास करके पूने के डेकन कालेज में वे प्रविष्ट हुए। लड़कपन ही से विष्णु शास्त्री को पढ़ने-लिखने का अनुराग था। उनकी बुद्धि और धारणा-शक्ति बहुत ही विलक्षण थी। वे भली भाँति चित्त लगाकर विद्याभ्यास करते थे; इसलिए स्कूल के विद्यार्थी और शिक्षकों ने उनका नाम "अभ्यासी" रक्खा था। उनका स्वभाव गम्भीर था; स्कूल में वे कभी किसी प्रकार की गड़बड़ न करते थे। यथासमय वे सीधे स्कूल जाते और छुट्टी होने पर सीधे घर आते थे। पाठशाला में प्रवेश करने के दिन से छोड़ने तक कभी उन्होंने अपना पाठ याद करने में किञ्चिन्मात्र भी शिथिलता नहीं की। एक ही दो बार पढ़ने से

उनको उनके पाठ कण्ठ हो जाते थे; उन्हें कण्ठ करके वे पाठशाला जाते थे और वहाँ शान्त-चित्त बैठे हुए अध्यापक के मुख से निकली हुई शिक्षाओं को सुनते थे। पाठशाला की पुस्तकों को पढ़ने के अनन्तर जो समय उन्हें मिलता था उसे वे कभी व्यर्थ न जाने देते थे। मराठी भाषा के नाटक, उपन्यास और समाचारपत्र इत्यादि पढ़ने में उसे वे लगाते थे। उनको पुस्तकावलोकन की बड़ी अभिरुचि थी। उसमें उनको विशेष आनन्द मिलता था। पढ़ने से उनको कभी भी विरक्तता न होती थी। जब तक उनके पास कोई भी पुस्तक पढ़ने के लिए रहती थी तब तक वे दूसरा काम न करते। पढ़ने में निमग्न देखकर कभी-कभी लड़के उनको तङ्ग किया करते थे; परन्तु वे इसका बुरा न मानते थे और न किसी लड़के को बुरा शब्द कहते थे। लड़कों की इस नटखटता को चुपचाप सहन करके वे पढ़ते रहते थे; पढ़ना वे कभी बन्द न करते थे।

विष्णु शास्त्री का प्रेम जैसा मराठी भाषा पर था वैसा ही संस्कृत पर भी था। जब तक वे स्कूल में थे तब तक अँगरेज़ी के साथ उनकी दूसरी भाषा मराठी थी; परन्तु संस्कृत का अभ्यास भी वे घर पर करते थे। छोटे ही वय में संस्कृत का बहुत कुछ ज्ञान उन्होंने सम्पादन कर लिया था; यहाँ तक कि मराठी की प्रथम तीन पुस्तकों का संस्कृत में अनुवाद तक उन्होंने कर डाला था। यह अनुवाद उनके वय और उनकी नियमित विद्या के विचार से बुरा न था।

प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर विष्णु शास्त्री ने पूने के डेकन-कालेज में प्रवेश किया और सन् १८७२ ईसवी में बी० ए० पास करके कालेज छोड़ा। अर्थात् बी० ए० में उत्तीर्ण होने के लिए उनको लगभग ६ वर्ष लगे। यदि वे बीच की साधारण वार्षिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते जाते तो बी० ए० होने के लिए उनको केवल ४ वर्ष लगते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ; जितना चाहिए था उससे ड्योढ़ा समय उन्हें लगा। इसका कारण उनका पुस्तकावलोकन था। उन्होंने स्वयं लिखा है कि जिस समय वे कालेज में थे और विद्या-पर्वत के उच्च शिखर तक पहुँचने के लिए शिक्षा-विभाग के बनाये हुए मार्ग से जा रहे थे, उस समय मार्ग के दोनों ओर लगे हुए वृक्षों और लताओं के पुष्पों को देख, आकर्षितान्तःकरण होकर, बीच ही में वे रुक जाते थे। इस समय उनकी दूसरी भाषा संस्कृत थी। अतः मराठी और अँगरेज़ी के ग्रन्थावलोकन के अतिरिक्त वे संस्कृत भाषा के भी ग्रन्थों का अवलोकन, पहले की अपेक्षा अधिक, करते थे। इतिहास, साहित्य, संस्कृत और तर्कशास्त्र उनको विशेष प्रिय थे। गणित में उनकी रुचि अधिक न थी। सम्भव है, इसी अनभिरुचि के कारण उनको ६ वर्ष तक कालेज में रहना पड़ा हो।

विष्णु शास्त्री की स्कूल और कालेज की दिनचर्य्या में कोई अन्तर नहीं हुआ। जैसे स्कूल में विद्याध्ययन करने के समय वे शान्त और गम्भीर थे, वैसे ही कालेज में प्रवेश पाने पर भी

वे बने रहे। कालेज के विद्यार्थियों को बहुधा अनेक दुर्गुण घेर लेते हैं; परन्तु विष्णु शास्त्री उनसे सदा दूर रहे। अपने सहाध्यायियों के साथ बातचीत करने में अथवा उनके साथ घूमने-फिरने में उन्होंने कभी अपना समय व्यर्थ नहीं खोया; न कभी उन्होंने कोई ऐसा अनुचित व्यवहार किया जिसके कारण उनको, अपने अध्यापकों के सम्मुख, सिर नीचा करना पड़ता; अथवा पिता को उन पर क्रोध आता। हाँ, एक बार कालेज के लड़कों ने वेणीसंहार-नाटक, संस्कृत में, खेला था; उस समय विष्णु शास्त्री धर्म्मराज बने थे। इस पात्र का काम शोक-रस-प्रधान था, जिसे उन्होंने बड़ी ही योग्यता से निर्वाह किया। यह भूमिका उनके शान्त शील और गम्भीर स्वभाव के अनुकूल भी थी। सुनते हैं, जिस समय यह प्रयोग हो रहा था उस समय दर्शकों में शास्त्रीजी के पिता भी विद्यमान थे; परन्तु उनके सम्मुख ही, सब सङ्कोच छोड़कर, विष्णु शास्त्री ने तर्पण किया! इस बात से उनके पिता को किञ्चिन्मात्र भी अप्रसन्नता नहीं हुई। कारण यह था कि डेकन-कालेज के लड़के प्रतिवर्ष कोई न कोई संस्कृत-नाटक खेलते थे। उनमें और मुम्बई के एलफ़िन्स्टन कालेज के विद्यार्थियों में परस्पर स्पर्धा सी थी। दोनों कालेजों के लड़के अपने-अपने खेल को अधिक अच्छा करके दिखलाना चाहते थे। ऐसी दशा में प्रत्येक पात्र को अपना-अपना काम योग्यता से सम्पादन करना ही उचित था।

कालेज में विष्णु शास्त्री का यद्यपि नाम नहीं हुआ; यद्यपि उनकी तेजस्विता का प्रकाश नहीं पड़ा; और यद्यपि एक-आध को छोड़कर उन्हें कोई छात्रवृत्ति नहीं मिली; तथापि उनकी विशाल बुद्धि का अंकुर गूढ़रूप से उस समय उनके हृदय में उगकर धीरे-धीरे बढ़ रहा था। राजा दशरथ के विषय में कालिदास ने कहा है—

> अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसन्ततिः स चिरं नृपः।
> प्राङ् मन्थनादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः॥
>
> —रघुवंश

समुद्र को मथने के पहले यह कौन जानता था कि उससे इतने रत्न निकलेंगे। विद्यार्थी की दशा में विष्णु शास्त्री के बुद्धि-वैभव का भी पता किसी को नहीं लगा। उनकी बुद्धि शान्त थी; परन्तु सांसारिक व्यवहारों के घर्षण का संस्कार होते ही वह जग उठी और अपना विकास दिखलाने लगी। हाँ, उनके कालेज में रहने के समय एक भविष्यद्वाक्य अवश्य हुआ था और वह सर्वथा सत्य निकला। जिस समय विष्णु शास्त्री डेकन-कालेज में थे उस समय डाक्टर कीलहार्न वहाँ अध्यापक थे। एक बार उनके एक परिचित विद्वान् जर्मनी से इस देश में आये और उन्होंने डेकन-कालेज की देख-भाल की। उस समय विष्णु शास्त्री के विशाल सिर, भव्य कपाल और उनकी विलक्षण बनावट को देखकर उन्होंने यह कहा कि "यह युवक विद्वान, प्रतिष्ठित और कीर्तिमान होगा"। उस समय किसी

ने इस भविष्यद्वाद पर ध्यान नहीं दिया; परन्तु पीछे से उसकी सत्यता के सम्बन्ध में किसी को शङ्का न रही।

कठिन से कठिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना; बड़ी-बड़ी छात्र-वृत्तियाँ मिलना; सहस्रशः पुस्तकों को साद्यन्त पढ़ जाना और अन्त में सेवा-वृत्ति स्वीकार करके आमरण लेखनी रगड़ते रहना कोई प्रशंसा की बात नहीं। इस प्रकार के अनेक पुरुष हुए हैं, और होते रहेंगे; परन्तु उनसे देश को क्या लाभ? धन्य वही पुरुष है जिससे जगत् का उपकार हो। यद्यपि विष्णु शास्त्री चाणाक्ष विद्यार्थी न थे और यद्यपि उन्होंने उस दशा में अनेक पुरस्कार प्राप्त करके नाम नहीं कमाया, तथापि उन्होंने पीछे से जो कुछ अपने देश और अपनी मातृ-भाषा के लिए किया उसके लिए उनके देशवासी चिरकाल तक उनके ऋणी रहेंगे। हज़ार तीव्र और तेजस्वी विद्यार्थियों की अपेक्षा हम उनको अधिक महत्ता देते हैं।

विष्णु शास्त्री के पिता स्वयं विद्वान् और ग्रन्थकार थे। उनके यहाँ अनेक प्रकार के ग्रन्थ थे। यह भी हम कह आये हैं कि मराठी भाषा की पुस्तकों और उसके समाचार-पत्रों के रिपोर्टर भी वे थे। इसलिए कोई भी नवीन पुस्तक उनके यहाँ आये बिना न रहती थी। उनके घर पर विद्वान् लोग भी आया करते थे और अनेक विषयों पर उनके पिता के साथ वार्तालाप किया करते थे। उनके वार्तालाप को विष्णु शास्त्री एकान्त में बैठकर सुनते और उस पर विचार किया करते थे।

विविध विषय की पुस्तकों के अवलोकन और विद्वानों के वार्तालाप के श्रवण से उनका ज्ञान-भाण्डार प्रतिदिन बढ़ता गया; पुस्तकस्थ विषयों के अतिरिक्त देश की दशा का भी उनको बहुत कुछ ज्ञान हो गया। अतएव जब उन्होंने बी० ए० पास करके कालेज छोड़ा तब और विद्यार्थियों के समान उनका ज्ञान आकुञ्चित न था। वे विशेष विद्वान्, बुद्धिमान् और ज्ञान-सम्पन्न होकर कालेज से निकले।

१८७२ ईसवी में जब विष्णु शास्त्री ने कालेज छोड़ा तब उनका वय २२ वर्ष का था। वे उस समय हृष्ट-पुष्ट और नीरोग थे। उनके ओठ मोटे थे; उनकी दृष्टि स्तब्ध थी; उनकी भौंहें बड़ी और स्थिर थीं; उनका शरीर श्यामल और सुदृढ़ था। उनके रूप-रङ्ग को देखकर यह कोई न कह सकता था कि वे इतने प्रसिद्ध लेखक, देश-भक्त और स्वातन्त्र्य-प्रिय होंगे।

कालेज छोड़कर विष्णु शास्त्री ने बाबा गोखले की पाठशाला में अध्यापक का काम स्वीकार किया; परन्तु कुछ ही दिनों के अनन्तर पूने के हाई स्कूल में उनको तृतीय अध्यापक का पद मिल गया। इस प्रकार व्यवसाय-प्राप्ति होने पर उनको अपनी प्रिय मातृभाषा मराठी की सेवा करने का सुअवसर मिला। जब वे विद्यार्थी थे तभी से वे अपने पिता के सम्पादित "शाला-पत्रक" में लेख लिखा करते थे। जब से वे कालेज से बाहर निकले तब से उन्होंने उस ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया और क्रम-क्रम से "शालापत्रक" को अपने ही अधिकार में कर

लिया। उसमें सब लेख उन्हीं के आने लगे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ "कविपञ्चक" में जो कालिदास, भवभूति, बाण, सुबन्धु और दण्डी के विषय में पाँच निबन्ध हैं वे दो वर्ष तक इसी "शालापत्रक" में छपते रहे थे। यह पत्र गवर्नमेंट की सहायता से प्रकाशित होता था। इसमें कविता के विषय में लिखते समय, विष्णु शास्त्री ने, क्रिश्चियन धर्म्म और उसके आचार्यों के प्रतिकूल बहुत कुछ लिखा। यह बात उन आचार्यों को बहुत बुरी लगी। गवर्नमेंट ही का पत्र और गवर्नमेंट ही के गृहीत धर्म्म पर आघात! अतएव १८७३ के अन्त में गवर्नमेंट ने "शालापत्रक" की समाप्ति कर डाली।

"शालापत्रक" को तो गवर्नमेंट ने बन्द कर दिया; परन्तु विष्णु शास्त्री की विशाल लेखनी से उत्पन्न हुई विचार-धाराओं को रोकने में वह समर्थ न हुई। क्षुब्ध हुए सिन्धु-प्रवाह को कौन रोक सकता है? "शालापत्रक" बन्द होते ही, १८७४ से, शास्त्रीजी ने क्रिश्चियन-धर्म्माचार्यों का एक और विशेष प्रबल शत्रु उत्पन्न किया। उसका नाम उन्होंने "निबन्धमाला" रक्खा। इसे वे प्रतिमास, मासिक पुस्तक के रूप में, बड़ी ही योग्यता से निकालने लगे। इसमें भी उन्होंने अपना पहला क्रम नहीं छोड़ा; दूसरों पर तीव्र कटाक्ष किये बिना वे नहीं रह सके। चाहे स्वदेशाभिमान की मात्रा अपने में बहुत ही अधिक जागृत रहने के कारण उन्होंने ऐसा किया हो, चाहे और किसी कारण से किया हो, इतने कड़े लेख लिखने की

तादृश आवश्यकता न थी। दूसरों के धार्म्मिक विचारों पर आघात न करके, और दूसरों को मर्म्म-भेदी वाक्य न कह-कर भी, मनुष्य अपने हृद्गत भावों को प्रकट कर सकता है और अपने को अच्छा लेखक सिद्ध कर सकता है। इतिहास पर लिखते-लिखते विष्णु शास्त्री ने मेकाले और मिल इत्यादि इतिहासकारों को अनेक दुर्वचन कहे और अँगरेज़ी भाषा पर लिखते-लिखते, स्वदेशियों के साथ अँगरेज़ों के उद्धत व्यवहार पर तथा पादरी लोगों के द्वारा अनेक युक्तियों से क्रिश्चियन धर्म्म के प्रचार पर भी, उन्होंने बड़ी ही तीक्ष्ण आलोचना की। यह बात क्रिश्चियन धर्म्मोपदेशकों और गवर्नमेंट के अधिका-रियों को अच्छी न लगी और ऐसा भासित होने लगा कि शास्त्रीजी पर राजद्रोह का आरोप लगाया जायगा। परन्तु यह न हुआ। हुआ यह कि थोड़े ही समय में शास्त्रीजी की बदली पूने से सैकड़ों कोस दूर रत्नागिरी को हो गई। यह आयोजना इस निमित्त शायद की गई कि रत्नागिरी में छापे-ख़ाने इत्यादि का प्रबन्ध न होने के कारण "निबन्धमाला" का निकलना बन्द हो जाय; परन्तु इसमें शास्त्रीजी के विपक्षियों को कृतकार्यता न हुई।

बाल्यावस्था से विष्णु शास्त्री पूने ही में रहे। वह नगर उन्हें अतिशय प्रिय था। उसे छोड़कर वे रत्नागिरी जाना न चाहते थे; परन्तु अपने पिता कृष्ण शास्त्री के आज्ञानुसार उन्होंने वहाँ के लिए प्रस्थान किया। वहाँ से भी वे अपनी प्रिय

"निबन्धमाला" को निकालते ही गये। वे उसे लिखते रत्नागिरी में और छपाते पूने में थे। इस बदली के कारण उनका चित्त और भी अधिक कलुषित हो गया और पहले से भी विशेष तीव्र लेख "निबन्धमाला" में निकलने लगे। जिस वर्ष उनकी बदली रत्नागिरी को हुई उसी वर्ष, अर्थात् १८७८ में, उन पर एक और ईश्वरीय कोप हुआ। उनके पिता का शरीरान्त हो गया। इस दुर्घटना के कारण उनको बहुत खेद हुआ और साथ ही गृहस्थाश्रम का भार भी उन पर आ पड़ा। इन्हीं कई कारणों से सेवा-वृत्ति से वे पहले से भी अधिक घृणा करने लगे और अपनी रजत-शृङ्खला को तोड़कर स्वतन्त्र होने का विचार करने लगे। ऐसा न करने से देशोपकार करने और मातृ-भाषारूपी मन्दिर के ऊपर अपनी यशःपताका उड़ाने का अवसर आना उन्होंने दुर्घट समझा। अतएव पिता के परलोक-वासी होने के अनन्तर वे बहुत दिन रत्नागिरी में नहीं रहे। पहले उन्होंने छुट्टी ली और पीछे से शीघ्र ही सेवा-वृत्ति को तिलाञ्जलि दे दी।

रत्नागिरी के स्कूल में विष्णु शास्त्री को १००) मासिक वेतन मिलता था। इस वेतन को तृणवत् समझकर उन्होंने सेवा-वृत्ति पर लत्ता-प्रहार किया। इस बात को सुनकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि विष्णु शास्त्री धनी न थे। न उनके यहाँ कोई व्यापार होता था; न जीविका का दूसरा और कोई मार्ग था। अतएव १००) रुपये की नौकरी छोड़ना

आश्चर्य की बात ही थी। उनकी मित्र-मण्डली उनको वैसा न करने के लिए बहुधा उपदेश देती रही; परन्तु उन्होंने उस विषय में किसी की बात न सुनी। उनका उत्तर यह था कि "प्राणरक्षा के लिए मुझे दिन में एक बार रूखा-सूखा अन्न चाहिए। वह चाहे जहाँ मैं रहूँ और चाहे जो काम मैं करूँ, मुझे मिलेगा। मुझे अधिक की इच्छा नहीं। फिर मैं क्यों दूसरों की सेवा करूँ।" धन्य सन्तोष! धन्य स्वातन्त्र्य-प्रियता!

विष्णु शास्त्री यदि अन्य अँगरेज़ी के पदवीधर विद्वानों के समान सेवा-प्रिय होते और शिक्षा-विभाग में बने रहकर अधिकारियों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते तो शीघ्र ही उनके वेतन की वृद्धि हो जाती; उनको उच्च पद भी मिल जाता; और किसी समय वे धन-सम्पन्न भी हो जाते। परन्तु इन बातों की उन्होंने कुछ भी परवा न की। बाल्यावस्था ही से उन्होंने अपनी मातृभाषा की सेवा करने का प्रण कर लिया था। उस प्रण को धन और पद-सम्बन्धी हानि-लाभ का विचार न करके उन्होंने पूरा करना चाहा और मराठी-भाषा में उत्तमोत्तम निबन्ध लिखकर उसे समृद्धि-शालिनी करने के लिए वे शीघ्र ही बद्ध-परिकर हुए। वे अँगरेज़ी में भी पारङ्गत थे; यदि चाहते तो उस भाषा में भी वे अच्छे-अच्छे लेख लिख सकते थे। इण्डियन ऐण्टिक्वेरी अथवा एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में पुरातत्त्व विषयक प्रबन्ध लिखकर वे सुलेखकों में अपना नाम कर सकते थे। परन्तु मराठी के सामने अँगरेज़ी को उन्होंने

तुच्छ समझा। स्वतन्त्रता के सामने परतन्त्रता को उन्होंने रौरव-नरक के समान दुःखद जाना और सेवा-वृत्ति से सुखी होने के लिए अधिकारियों की चाटुकारिता करने की अपेक्षा एक ही बार भोजन करके जीवन-निर्वाह करना उन्होंने अधिक सुखकर निश्चित किया। किसी जाति-विशेष अथवा देश-विशेष की उन्नति के जो-जो कारण होते हैं उनमें उस जाति अथवा उस देश की भाषा का उन्नत होना भी एक कारण है। इस बात को विष्णु शास्त्री भली भाँति समझते थे। इसी लिए सेवा-वृत्ति से पृथक् होने पर "अध्ययन, अध्यापन, और महा-राष्ट्रग्रन्थ-लेखन" में अपना जीवन व्यतीत करने का उन्होंने प्रण किया। जिस जाति में ऐसे-ऐसे उन्नताशय, ऐसे-ऐसे स्वभाषा-प्रेमी और ऐसे-ऐसे अध्ययनशील पुरुष हुए, उस जाति के साहित्य की क्यों न उन्नति हो। हमारे युक्तप्रान्त के विद्वानों को ऐसे-ऐसे पुण्य पुरुषों का चरित सुनकर लज्जा आनी चाहिए। माता और मातृभाषा से उदासीन लोगों को हम समान दोषी समझते हैं। जिस भाषा को हम बाल्यकाल से बोलते हैं; जिसमें अपनी मा, अपनी स्त्री, अपनी कन्या और अपने पुत्रपौत्रादि से बातचीत करते हैं; अँगरेज़ी में पराकाष्ठा के विद्वान् होकर भी विपत्ति में जिस भाषा को छोड़ दूसरी भाषा मुख से नहीं निक-लती; उससे बहिर्मुख होना बड़ी भारी कृतघ्नता है। कृतघ्नता क्या, घोर पाप है! अँगरेज़ी पढ़कर जो हिन्दी की मासिक पुस्तकों और समाचार-पत्रों से दूर भागते हैं; परन्तु पायनियर

का आदर करते हैं, उनको उनकी प्रिय अँगरेज़ी के कविशिरोमणि मिल्टन के वचनों का स्मरण करके भी तो लज्जित होना चाहिए। लैटिन भाषा में विशेष प्रवीण होकर भी अपने देश की भाषा अँगरेज़ी ही की सेवा करना मिल्टन ने अपना धर्म्म समझा। यह बात उसने अपनी एक पुस्तक में स्पष्ट लिखी है। उसे हम फ़ुटनोट में अविकल उद्धृत करते हैं*।

विष्णु शास्त्री ने समझ-बूझकर सेवा-वृत्ति को छोड़ा, अविचार से नहीं। अपने मन का निश्चय उन्होंने पहले ही से

*I applied myself to that resolution which Ariosto followed against the persuasions of Bemho, to fix all the industry and art I could unite to the adorning of my native tongue ; not to make verbal curiosities the end (that were a toilsome vanity) but to be an interpreter and relator of the best and sagest things among mine own citizens through out his island in the mother dialect. That what the greatest and choicest wits of Athens, Rome or modern Italy and those Hebrews of old, did for their country, I, in my portion, with this, over and above those of being a Christian, might do for mine; not caring to be once named abroad by writing in Latin (like Bacon) though perhaps I could attain to that, but content with these British Islands as my world—Reasons against Church Government.

दृढ़ कर लिया था। सेवा और स्वतन्त्रता का अन्तर वे भली भाँति समझ गये थे। लापलैंड के रेन-डियर नामक अतिशय शीतप्रिय हरिण को आफ्रिका का जलता हुआ वालुकामय प्रदेश जैसा कष्टदायक होता है, स्वतन्त्रता के अभिमानी पुरुष को दूसरे के अधीन होकर रहना भी वैसा ही असह्य होता है। रत्नागिरी से चले आने पर विष्णु शास्त्री ने अपने एक मित्र को एक पत्र अँगरेज़ी में भेजा था। उसमें उन्होंने सेवा-धर्म्म को परित्याग करते समय अपने मन के विचारों को संक्षिप्त रीति पर प्रकट किया है। उस पत्र का सारांश हम नीचे देते हैं—

"सरकारी सेवा बुद्धि-पुरस्सर छोड़ देना इस समय मनुष्यों को प्रत्यक्ष आत्मघात करना सा जान पड़ता है, परन्तु उस विषय में मेरा मत बिलकुल निराला ही है। अन्यायी अधिकारियों के सामने मस्तक झुकाने की अपेक्षा उनसे सारा सम्बन्ध ही तोड़ डालना मैं अच्छा समझता हूँ। जिस समय मेरी रत्नागिरी को बदली हुई उसी समय मुझे सेवावृत्ति से पृथक् होना था। परन्तु कई कारणों से उस समय मैं वैसा नहीं कर सका। इससे तुमको विदित हो जावेगा कि रजत-शृङ्खलाओं को बहुत दिन तक न पहने रहने का मेरा पहले ही से निश्चय हो चुका था।"

विष्णु शास्त्री के ये वचन हृदय में अङ्कित कर रखने योग्य हैं। इस विषय में उनको दक्षिण का विद्यासागर कहना चाहिए। कलकत्ते में शिक्षा-विभाग के अधिकारियों के अन्याय

से पीड़ित होकर जिस प्रकार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने इतने बड़े माननीय पद को तृणवत् समझकर एक क्षण में छोड़ दिया उसी प्रकार पूने में विष्णु शास्त्री ने शिक्षा-विभाग से सम्बन्ध तोड़ने में किञ्चिन्मात्र भी आगा-पीछा नहीं किया। भारत-भूमि को ऐसे ही ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ, स्वतन्त्रताभिमानी और स्वदेश-प्रिय पुरुषों की आवश्यकता है। खेद है, ऐसे-ऐसे महात्मा इस देश को अपने जन्म से यदाकदा ही भूषित करते हैं।

रत्नागिरी से आकर, अपने मित्रों की सलाह से, विष्णु शास्त्री ने, १८८० ईसवी में, "न्यू इँगलिश स्कूल" नामक एक नवीन पाठशाला खोली। उस पाठशाला में अध्यापन का काम शास्त्रीजी के साथ-साथ उनके मित्र पण्डित बाल गङ्गाधर तिलक और महादेवराव नामजोशी करने लगे। कुछ दिनों के अनन्तर पण्डित गोपाल गणेश आगरकर और वामन शिवराम आपटे भी उनमें आ मिले। इन पाँच विद्वानों ने मिलकर इस नवीन शाला का काम इतनी योग्यता से करना आरम्भ किया कि थोड़े ही दिनों में वह पाठशाला बहुत ही उन्नत अवस्था को पहुँच गई। वही इस समय "फ़रगुसन कालेज" के नाम से प्रसिद्ध है। खेद का स्थल है कि शास्त्रीजी को अपनी स्थापित की हुई पाठशाला का कालेज में परिणत होना, जीवन दशा में, देखने को न मिला।

विष्णु शास्त्री नवीन पाठशाला ही को स्थापन करके चुप नहीं बैठे। उन्होंने "केसरी" नाम का समाचार-पत्र मराठी

में और "मराठा" नाम का समाचार-पत्र अँगरेज़ी में निकालना प्रारम्भ किया। इस काम के लिए एक छापेख़ाने की आवश्यकता हुई। इसलिए उन्होंने "आर्यभूषण" नाम का छापाख़ाना भी स्थापित किया। ये दोनों समाचार-पत्र दक्षिण के बड़े ही प्रभावशाली पत्र हैं और अभी तक बराबर अपने कर्त्तव्य को दक्षता से पालन करते जाते हैं। यह वही "केसरी" है जिसमें कई वर्ष हुए, एक कविता प्रकाशित करने के अपराध में पण्डित बाल गङ्गाधर तिलक को विशेष कष्ट भोगना पड़ा। शास्त्रीजी ने "आर्यभूषण" छापेख़ाने के साथ ही "चित्रशाला" नामक एक और छापाख़ाना भी स्थापित किया। वह भी अभी तक विद्यमान है, और प्रतिदिन उन्नति के पद पर आरूढ़ होता जाता है। उससे अनेक प्रकार के प्राचीन और नवीन ऐतिहासिक चित्र निकलते हैं। विष्णु शास्त्री ने "काव्येतिहास-संग्रह" नामक एक मासिक-पुस्तक भी निकाली। इस संग्रह में अनेक प्राचीन मराठी और संस्कृत के ग्रन्थ उन्होंने प्रकाशित किये। जितने कार्य शास्त्रीजी ने आरम्भ किये सबका यथासमय वे परिचालन और पर्यवेक्षण करते रहे। यह सब करके अपनी प्यारी "निबन्धमाला" को फिर भी वे नहीं भूले। उसको वे बराबर सात वर्ष तक बड़ी योग्यता से लिखते रहे। उनके लेख ऐसे मनोरम, सरस और रोचक होते थे कि सब लोग उनकी 'माला' का हृदय से आदर करते और उसे बड़े प्रेम से पढ़ते थे।

शास्त्रीजी बड़े धैर्य्यवान् पुरुष थे। उनके स्थापित किये हुए समाचार-पत्रों में कोलापुर के दीवान के प्रतिकूल लेख प्रकाशित होने पर उन पत्रों से सम्बन्ध रखनेवालों पर अभियोग चलाया गया। इस कारण उनके सहयोगी मित्र घबरा उठे; परन्तु शास्त्रीजी ने धैर्य नहीं छोड़ा। आये हुए सङ्कट का सामना करने के लिए उन्होंने सबको उद्यत किया और उसके लिए जो सामग्री आवश्यक थी उसका भी यथोचित प्रबन्ध कर दिया* ।

एक कवि ने कहा है कि ब्रह्मा बड़ा ही अन्यायी है; क्योंकि पहले तो वह अच्छे-अच्छे विद्वानों को उत्पन्न ही नहीं करता; और करता भी है तो वामन शिवराम आपटे के समान उन्हें बहुत दिन तक इस संसार में रहने नहीं देता। यह उक्ति बहुत सत्य जान पड़ती है। रत्नागिरी से आकर तीन-चार वर्षों में जो उद्योग-परम्परा विष्णु शास्त्री ने उत्थापित की थी वह भली भाँति यथास्थित भी न होने पाई थी कि निष्ठुर काल ने, १८८२ ईसवी के मार्च महीने की १७ तारीख़ को, उन्हें इस लोक से उठा लिया। ऐसे उत्कृष्ट लेखक, निस्सीम देश-भक्त, महारसिक और अत्यन्त सद्‌गुणी पुरुष का अवतार

---

* इस अभियोग का फल यह हुआ कि विष्णु शास्त्री के मित्र आगरकर और तिलक को कुछ दिनों के लिए कारागार सेवन करना पड़ा। परन्तु इस दण्ड से वे किञ्चित् भी नहीं डगमगाये। अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए वे सदैव सजग बने रहे।

केवल ३२ वर्ष में समाप्त हो गया! हन्त! ब्रह्मदेव सचमुच ही महाअन्यायी जान पड़ता है!

शास्त्रीजी का स्वभाव बहुत ही सरल और दयालु था। लिखने में वे यद्यपि इतने प्रवीण थे तथापि वाचालता उनमें न थी। एक बार एक विद्वान् पुरुष उनके लेखों से मोहित होकर उनसे मिलने आया। शास्त्रीजी ने उसे आदर-पूर्वक बुलाया और बिठाया; परन्तु उसके आसन ग्रहण करने पर उन्होंने अपनी ओर से कुछ पूछ-पाछ न की, और न उस आगन्तुक पुरुष ही ने कुछ कहा। इसका फल यह हुआ कि कुछ देर चुपचाप बैठे रहने के अनन्तर शास्त्रीजी ने एक पुस्तक हाथ में ले ली और उसे वे देखने लगे। यह देखकर दो-चार मिनट में वह आया हुआ गृहस्थ भी उनको नमस्कार करके उठ गया। शास्त्रीजी के रूप-रङ्ग को देखकर कोई नया मनुष्य यह नहीं विश्वास कर सकता था कि ऐसे अच्छे लेख उनकी लेखनी से निकलते होंगे। यद्यपि उनमें वाचालता न थी, तथापि अपने मित्रों के साथ वे प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप करते थे। स्वभाव के वे बड़े ही उदार थे। जिस पर उनका विश्वास जम जाता था उसे वे हृदय से चाहते थे। अपनी परिमित आमदनी में से दान-पुण्य भी वे करते थे। दो-एक दीन ब्राह्मणों के कुटुम्ब का पालन भी उन्होंने यथा-साध्य किया है।

विष्णु शास्त्री अपने देश के पूरे भक्त थे। उनके समान देशाभिमानी होना कठिन है। परन्तु वे इतने सत्यप्रिय थे

कि अपने देश के दोषों को स्वीकार करने में भी वे सङ्कोच न करते थे। उन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि "हमारा उद्देश सत्य के निरूपण करने का है। हम अपनी भूल प्रसन्नता-पूर्वक मानने को प्रस्तुत हैं। अपने देश की एक-आध बात अनुकरणीय होने ही से उसकी प्रशंसा करना अथवा उसके वास्तविक दोषों को छिपाना, दोनों बातें, हमको पसन्द नहीं। ये दोनों ही निन्द्य हैं। जो मनुष्य न्यायी और निष्पक्षपाती है उसे ऐसा व्यवहार कदापि सहन नहीं हो सकता"। सच है, अपनी भूल न स्वीकार करना मूर्खता का चिह्न है। उदारचेता और न्यायशील पुरुष कभी सत्य का अपलाप नहीं करते।

विष्णु शास्त्री ने यद्यपि आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज और बाइबल के अनुयायियों पर अपनी "निबन्धमाला" में ठौर-ठौर पर बड़े ही मर्मभेदी आघात किये हैं, तथापि उनके पूर्वोक्त वाक्यों और 'लोकभ्रम' तथा 'अनुकरण' इत्यादि निबन्धों से यह सूचित होता है कि उनके धार्मिक विचार सङ्कुचित न थे। क्या ही अच्छा होता यदि इस विषय पर वे अपना मत स्पष्टता-पूर्वक प्रदर्शित कर देते। एक स्थल पर उन्होंने इतना अवश्य लिखा है कि "धर्म्म के समान वादग्रस्त विषय पर व्यर्थ वाद-प्रतिवाद करते बैठना और परस्पर की न्यूनताओं को दिखलाते रहना अनुचित है। ऐसा करने की अपेक्षा जन्म से जो धर्म्म जिसे प्राप्त हुआ है उसी में रहकर सदाचरण करना उत्तम है।"

शास्त्रीजी बड़े ही उद्भट लेखक थे। उनकी सबसे अधिक प्रशंसा उनके ग्रन्थ लिखने के कौशल की है। परन्तु वे केवल लेखनी ही का परिचालन न करते थे; उनकी उद्योग-परम्परा भी प्रशंसनीय थी। उद्योग के बिना लेखन-कौशल अथवा वाचालता व्यर्थ है। बिलायत के प्रसिद्ध वक्ता बर्क ने कहा है कि "क्रिया* वह भाषा है जिसके अर्थज्ञान में कभी भूल ही नहीं होती"। शास्त्रीजी की क्रिया के प्रत्यक्ष फल एक नहीं अनेक इस समय दृग्गोचर हो रहे हैं, परन्तु खेद इस बात का है कि उनका उपयोग करने के लिए इस समय वे नहीं हैं। उनके प्रचलित समाचारपत्र, "केसरी" और "मराठा", बड़ी ही योग्यता से अपने देश की सेवा कर रहे हैं। उनका "न्यू इँगलिश स्कूल" इस समय कालेज हो गया है। उनकी "चित्रशाला" में प्रतिवर्ष नये-नये मनोरम चित्र बनते हैं और सुलभ होने के कारण सर्वसाधारण मनुष्यों के भी कमरों में स्थान पाते हैं।

विष्णु शास्त्री के ग्रन्थों में "निबन्धमाला" और संस्कृत कविपञ्चक मुख्य हैं। "निबन्धमाला" के सब ८४ अङ्क हैं। उन सबकी पृष्ठसंख्या अष्टपत्री १२०० से भी अधिक है। इन ८४ अङ्कों में जितने निबन्ध हैं प्रायः सभी अच्छे हैं। शास्त्रीजी के विषय-प्रतिपादन करने की पद्धति ऐसी अद्भुत और उनकी भाषा ऐसी मनोरम है कि औरों को तो बात ही न्यारी है, उनके

---

* Action is the language that never errs—Burke.

प्रतिपक्षी भी उनके निबन्धों को पढ़कर उनके लेखन-कौशल की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। जिनके मतों अथवा लेखों का खण्डन शास्त्रीजी ने किया है वे लोग स्वयं अपने ही मुख से उनके प्रबन्धों को पढ़ते समय अपने भ्रम को बहुधा स्वीकार करके, शास्त्रीजी के कोटिक्रम और विलक्षण चातुर्य पर मोहित हो रहे हैं। वे इतने सत्यप्रिय थे कि अपने विपक्षियों के आक्षेप-पूरित पत्रों को प्रसन्नतापूर्वक "निबन्धमाला" में स्थान देकर उनका विचार करते थे और यदि कोई उनकी भूल को सिद्ध कर देता था तो उसे वे तुरन्त स्वीकार भी कर लेते थे। परन्तु उनके लेख प्रायः बड़े ही तीव्र होते थे। जिसके वे पीछे पड़ जाते थे उसके ऊपर ऐसे मर्म-कृन्तक वाक्य लिखते चले जाते थे कि उनको पढ़कर उनके लक्ष्यीकृत मनुष्य को समाज में मुख दिखलाना कठिन हो जाता था। "लोकहितवादी" नामक ग्रन्थकार पर जो उन्होंने बाण-वर्षा करनी आरम्भ की तो वर्षों तक उसकी झड़ी बाँध दी। वे प्राचीन मराठी कवियों के बड़े पृष्ठ-पोषक थे। प्रसिद्ध कवि मोरो पन्त पर उन्होंने अपनी "निबन्धमाला" में बहुत कुछ लिखा है, और अँगरेज़ी दृष्टि से उसकी कविता में दोष निकालनेवालों की ख़ूब ख़बर ली है।

इतिहास, समालोचना, डाक्टर जान्सन, भाषा-पद्धति, भाषादूषण, गर्व, वक्तृत्व और भाषापरिज्ञान इत्यादि विषयों पर जो निबन्ध शास्त्रीजी ने "निबन्धमाला" में लिखे हैं वे अवलोकन करने योग्य तो हैं ही; मनन करने योग्य भी हैं। वे जिस

निबन्ध को लिखते थे उसके ऊपर शिरोभाग में किसी कवि, पण्डित अथवा दार्शनिक की कोई ऐसी उक्ति रख देते थे जिसमें उनके निबन्धान्तर्गत विषय का पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब सा झलकने लगता था। सात वर्ष तक प्रचलित रखने के अनन्तर जब उन्होंने "निबन्धमाला" को बन्द करना चाहा, तब उसके अन्तिम, अर्थात् ८४वें, अङ्क के आरम्भ में कालिदास के शाकुन्तल नाटक का यह श्लोक उन्होंने लिखा—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः।

यह पद्य उस समय का है जब राजा दुष्यन्त से कण्व मुनि के आश्रम में मृगया न करने की प्रार्थना की गई है। उस प्रार्थना को मान देकर दुष्यन्त कहते हैं—"अपने सींगों से जल को ताड़ित करते हुए जङ्गली महिष प्रसन्नतापूर्वक सरोवरों में प्रवेश करें; वृक्षों की छाया में बैठे हुए हरिणों के यूथ सुख से निगाली करें; बड़े-बड़े शूकर अल्प जलाशयों में निडर होकर खाने के लिए मोथे को खोदें; और ढीली प्रत्यञ्चावाला मेरा यह धनुष भी अब विश्राम करे।" "निबन्धमाला" के इस अन्तिम अङ्क को आधा ही लिखकर विष्णु शास्त्री इस लोक को छोड़ गये। उनके परलोकवासी होने पर उनके छोटे भाई ने इस अङ्क को प्रकाशित करके यह सिद्ध सा कर दिया

कि महाधनुर्धारी दुष्यन्त के धनुष के समान शास्त्रीजी ने अपनी लेखनी ही को शिथिल करने की सूचना इस अवतरण से नहीं दी थी; किन्तु उससे उन्होंने अपने शरीर-बन्धनों को शिथिल करके सर्वदा के लिए विश्राम लेने की भी पहले ही से सूचना दे दी थी! विष्णु शास्त्री के कई निबन्धों का अनुवाद पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने हिन्दी में किया है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई शास्त्रीजी की समग्र निबन्धमाला का अनुवाद हिन्दी में करके उनके प्रचण्ड पाण्डित्य से परिपूर्ण निबन्ध हिन्दी जाननेवालों के लिए भी सुलभ कर दे। परन्तु, करे कोई कैसे? हमारे प्रान्त के निवासियों को तो अपनी मातृ-भाषा का आदर अपमान-जनक सा जान पड़ता है। देश का दुर्भाग्य! और क्या? निबन्धमाला का तो नहीं, परन्तु शास्त्रीजी के कविपञ्चक का अग्निहोत्रीजी ने पूरा अनुवाद कर डाला है। पाँच निबन्धों में से कालिदास और भवभूति विषयक निबन्ध पुस्तकाकार छप भी गये हैं। बाण-विषयक निबन्ध "सरस्वती" ही में प्रकाशित हो चुका है। शेष दो निबन्ध अभी तक नहीं प्रकाशित हुए। इन निबन्धों को देखने से शास्त्रीजी की रसिकता, मार्मिकता और मराठी के साथ-साथ संस्कृत की भी विद्वत्ता का पूरा परिचय मिलता है। हे जगदीश्वर! क्या हिन्दी के साहित्य-जगत् में भी कभी कोई विष्णु शास्त्री उत्पन्न होगा?

[जनवरी १९०३

३—महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य, एम० ए०

इस प्रान्त के पढ़े-लिखे लोगों में से ऐसा शायद ही कोई होगा जो पण्डित आदित्यरामजी के नाम से परिचित न हो। जिसने किसी स्कूल या कालेज में प्रवेश किया है, और पण्डितजी के ऋजुव्याकरण को हाथ में लेकर "भवति, भवतः, भवन्ति" सीखा है, उसकी तो कुछ बात ही नहीं; वह तो उनका विद्यार्थी ही है। वह न जानेगा तो जानेगा कौन ?

पण्डितजी के पूर्वज बङ्गाल में रहते थे। आप पाश्चात्य वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण हैं। अर्थात् आदिसूर के समय में आपके पूर्वज इसी तरफ़ से वहाँ गये थे। पण्डितजी का वेद यजु, शाखा कण्व और गोत्र घृतकौशिक है। आपके माता-मह के पूर्वजों में काशीराम वाचस्पति नाम के एक विख्यात पण्डित हो गये हैं। स्मृतिशास्त्र के आचार्य रघुनन्दन के तिथितत्त्व नामक ग्रन्थ की उन्होंने एक बहुत अच्छी टीका लिखी है। काशीराम के पौत्र राजीवलोचन न्यायभूषण बनारस में आकर रहने लगे। वहाँ वे गवर्नमेंट-संस्कृत-कालेज में वेदान्त के अध्यापक नियत हुए। यह घटना १८२८ ईसवी की है। वहाँ से वे प्रयाग चले आये। प्रयाग में उनको

रीवाँ-नरेश, महाराजा जयसिंहदेव और विश्वनाथसिंहदेव, ने सब प्रकार से आश्रय दिया।

पण्डित राजीवलोचन न्यायभूषण, भट्टाचार्य महाशय के मातामह थे। उन्होंने अपनी कन्या (पण्डित आदित्यराम की माता) को संस्कृत पढ़ाया था। वे खूब लिख-पढ़ सकती थीं। ज्योतिष का वे यहाँ तक ज्ञान रखती थीं कि जन्म-पत्र तक बनाती थीं। उनके बड़े पुत्र का नाम पण्डित वेणीमाधव भट्टाचार्य है। आप बहुत दिनों तक प्रयाग में म्यूनीसिपल कमिश्नर रहे हैं। अब भी वे वहीं हैं। इस समय आप आनरेरी मजिस्ट्रेट हैं।

पण्डित आदित्यराम की माता का नाम था धन्यगोपी। आदित्यरामजी उनके दूसरे पुत्र हैं। आपका जन्म २३ नवम्बर १८४७ को, प्रयाग में, हुआ। आपकी विदुषी माता ने आपका जन्मपत्र सूतिका-गृह ही में अपने हाथ से बनाया था। पाँच वर्ष के होने पर इन्होंने अपनी माँ से अक्षराभ्यास किया और आठ ही वर्ष की उम्र में ये बँगला में रामायण और महाभारत पढ़ लेने लगे। प्रयाग से ये बनारस गये। उस समय प्रयाग में ज़िला-स्कूल तक न था। बनारस में ये अँगरेज़ी और संस्कृत दोनों साथ ही साथ पढ़ने लगे।

१८६४ ईसवी में पण्डितजी ने प्रवेशिका-परीक्षा पास की। इस उपलक्ष्य में ग्रिफ़िथ साहब ने इनको वरसेस्टर का बृहत्-कोश इनाम में दिया। इस कोश को पण्डितजी अभी तक बड़े

आदर से रक्खे हुए हैं, क्योंकि इस पर अमहार-ज्ञाता का हस्ताक्षर है। ग्रिफ़िथ साहब आप पर बहुत ही प्रसन्न थे। यह परीक्षा पास करने पर पण्डितजी को गवर्नमेंट की छात्रवृत्ति भी मिली और संस्कृत की छात्रवृत्ति भी। जब तक कालेज में रहे वे अपनी संस्कृत और अँगरेज़ी की योग्यता के बल पर कालेज के बड़े से बड़े वजीफ़े प्राप्त करते गये। एक सुवर्ण-पदक भी आपको मिला। महामहोपाध्याय पण्डित कैलाशचन्द्र शिरोमणि, पण्डित बेचनराम त्रिपाठी, पण्डित प्रेमचन्द तर्कवागीश और पण्डित जयनारायण तर्कालङ्कार से आपने संस्कृत अध्ययन किया।

पण्डित आदित्यरामजी को ग्रिफ़िथ साहब से अँगरेज़ी पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ग्रिफ़िथ साहब अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं; अँगरेज़ी के तो वे आचार्य ही हैं। अँगरेज़ी गद्य और पद्य लिखने में वे अपना सानी नहीं रखते। फिर, अध्यापन-विद्या में वे ऐसे कुशल हैं कि बनारस-कालेज में जिस समय वे कुछ कहने या सिखलाने लगते थे उस समय क्लास का क्लास तन्मय हो जाता था। ऐसा अच्छा अध्यापक पा-कर पण्डित आदित्यरामजी ने भी उनके अध्यापन से लाभ उठाने में कोई कसर नहीं की। ग्रिफ़िथ साहब की तरह वे भी एक प्रसिद्ध अध्यापक हुए। उन पर ग्रिफ़िथ साहब का बड़ा प्रेम था। इस समय साहब यद्यपि ८० वर्ष के बूढ़े हो गये हैं और नीलगिरि पर्वत पर, एकान्तवास में, वेदों का अँगरेज़ी-अनुवाद कर रहे हैं, तथापि वे अपने विद्यार्थियों को भूले

नहीं हैं। ६ फ़रवरी १९०२ के अपने एक पत्र में वे पण्डित आदित्यरामजी को लिखते हैं—

I take very great interest in the career of my old pupils and am happy to see that many of them are occupying high and respectable positions in the service of the Government.

जिस समय ग्रिफ़िथ साहब डाइरेक्टर थे उस समय, ११ जनवरी १८८७ को, आपने एक बहुत लम्बी सरटीफ़िकट पण्डितजी को दी। उसमें पण्डितजी की छात्रावस्था के विषय में आप यों लिखते हैं—

He matriculated in 1864, passing in the first or highest class, and obtaining in consequence a Government scholarship and prize; and throughout his college career, in which he passed, with great credit, the local and the university examinations, and gained additional scholarships and prizes, his regularity and attention to his studies, his rapid progress and his good manners and conduct, gave me and all his teachers entire satisfaction. He passed the B. A. Examination, in the second division, in 1869, and the M. A. Examination (for which he took up Sanskrit) in 1871.

संस्कृत में एम० ए० पास कर लेने पर ग्रिफ़िथ साहब की सिफ़ारिश से, १६ मार्च १८७२ को, भट्टाचार्य महाशय सागर

के "हाईस्कूल" में संस्कृत के अध्यापक नियत हुए। वहाँ दो ही तीन महीने वे रहे होंगे कि प्रयाग में म्योर-कालेज की स्थापना हुई। तब वे म्योर-कालेज में बदल आये और वहाँ संस्कृत के अध्यापक नियत हुए। इस प्रकार वे अपनी जन्म-भूमि प्रयाग में पहुँच गये। इस कालेज में वे दो ही वर्ष रहे। इतने में बनारस के क्वीन्स कालेज में अँगरेज़ी और संस्कृत-विभाग के अध्यापक की जगह ख़ाली हुई। उस पर गफ़ साहब थे; पर वे म्योर-कालेज को बदल आये। इस जगह पर तब तक कोई देशी विद्वान् न नियत हुआ था। डाक्टर हाल, डाक्टर कर्न और ग्रिफ़िथ साहब, जितने इस जगह पर गफ़ साहब के पहले थे, सब विलायती थे और सभी अँगरेज़ी तथा संस्कृत के पारगामी पण्डित थे। परन्तु, इस समय, विद्या-विभाग के अधिकारियों को भट्टाचार्य महाशय से अधिक योग्य पुरुष न मिला। इसलिए वही इस सम्माननीय पद पर अधिष्ठित किये गये। जनवरी १८७४ से मार्च १८७५ तक आप इस पद पर रहे। जब डाक्टर थीबो विलायत से इस जगह के लिए विशेष रूप से मुक़र्रर होकर आ गये तब पण्डित आदित्यरामजी म्योर-कालेज में अपनी जगह पर लौट आये। १८७८ में वे वहाँ पर इतिहास और दर्शन-शास्त्र के अध्यापक हुए। १८८१ में आप कुछ काल तक अँगरेज़ी के भी अध्यापक रहे। फिर आपको संस्कृत का अध्यापन-कार्य मिला। इसी पर आप अन्त तक बने रहे। १९०२ में, ५५ वर्ष के वयो-वृद्ध होकर, आपने पेंशन ले ली।

म्योर-कालेज और "फ़ैकल्टी आफ़ आर्टस्" के लिए पण्डित आदित्यरामजी ने जो कुछ किया है उसकी प्रशंसा शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर और कालेज के प्रधानाध्यापक ने ख़ूब की है। आप "सिंडिकेट" के मेम्बर हैं। इलाहाबाद के विश्वविद्यालय की सभाओं में आपने कभी किसी को प्रसन्न करने अथवा किसी व्यक्ति-विशेष को लाभ पहुँचाने के इरादे से कोई काम नहीं किया। जो कुछ आपको उचित और न्याय्य समझ पड़ा वही आपने स्पष्टतया कहा भी है और उसी के अनुसार, समय पर, आपने काम भी किया है। यूनीवरसिटी-कमिशन को आपने अपनी जो राय लिखकर दी थी वह पढ़ने लायक़ है। उसमें आपने इस बात की साफ़-साफ़ सिफ़ारिश की है कि विश्वविद्यालय की सभाओं में शरीक होनेवालों को इस बात की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए कि निर्भय होकर वे अपने सच्चे आन्तरिक विचारों को व्यक्त कर सकें। इस लेख में पण्डितजी ने संस्कृत-प्रचार के विषय में बहुत कुछ कहा है।

पण्डितजी की विद्वत्ता से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने, १८९७ में, आपको महामहोपाध्याय की पदवी देकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया। आपके नाम के साथ इस पदवी का मणि-काञ्चन का जैसा योग हो गया।

३० वर्ष नौकरी करके जब आप म्योर-कालेज से अलग होने लगे तब कालेज में एक सभा हुई। डाक्टर थीबो ने अपनी वक्तृता में भट्टाचार्य महाशय के कामों की ख़ूब प्रशंसा

की। कालेज के कई पुराने विद्यार्थी—माननीय पण्डित मदन-मोहन मालवीय, पण्डित सुन्दरलाल, तथा हाईकोर्ट के और कई वकील—इस अवसर पर उपस्थित थे। जब मालवीयजी बोलने को उठे तब उनका कण्ठ इतना भर आया कि उन्हें अश्रु-पात होने लगा। कालेज के विद्यार्थियों ने, अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, अपने व्यय से, पण्डितजी का एक फ़ोटो (Life-size bust) बनवाकर कालेज के पुस्तकालय में लगाने का तत्काल विचार किया। यह शायद अब तक लग भी गया हो*।

शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ग्रिफ़िथ और लिविस साहब ने आदित्यरामजी को बहुत अच्छे सरटीफ़िकट दिये हैं। पण्डितजी के गुणगान से वे साद्यन्त भरे हुए हैं। ग्रिफ़िथ साहब अपनी सरटीफ़िकट के अन्त में लिखते हैं—

His whole official career has been one of quiet, steady and successful labour, and I have a very high opinion of his character and merits as a servant of the State.

पण्डितजी हिन्दी-मिडिल के बहुत वर्षों तक परीक्षक रहे हैं। डाइरेक्टर साहब की भेजी हुई हिन्दी-पुस्तकों की आलोचनायें भी आप करते रहे हैं। इस सम्बन्ध में आपने जो काम किये हैं उनकी भी ग्रिफ़िथ साहब ने बड़ी बड़ाई की है।

---

* यह लेख आक्टोबर १६०४ का लिखा हुआ है।

इस प्रान्त के स्कूलों में हिन्दी की जो किताबें पढ़ाई जाती हैं उनकी जाँच के लिए टेक्स्ट बुक कमिटी की जो शाखा है उसके पण्डितजी मेम्बर हैं; और, सुनते हैं, आप अपनी सच्ची राय देने से कभी नहीं सकुचे हैं। चाहे जिसकी पुस्तक हो, और चाहे आप पर जैसा दबाव डाला जाय, आप कभी किसी का पक्षपात नहीं करते। आपकी न्यायशीलता को धन्य है। इस विषय में लिविस साहब अपनी सरटीफ़िकट में क्या कहते हैं, सो भी सुनिए—

His services, as a member of the Provincial Text-Book Committee, have been particularly generous and valuable. The number of Books, which he has critically examined and reported on in detail, is very great indeed, and his reviews have been the expression of his scholarship and of his sincere desire to help things forward in the direction of progress, while they have remained untainted by any unworthy prejudice or sinister aim. He appears to have laboured constantly with the high object of promoting the public good, as he conceived it. He has been frank and outspoken and tenacious of his own opinions, but I have

not known him to fail incourtesy and true loyalty. I believe that any course of conduct not perfectly straightforward would be entirely foreign to his nature and habit of thought.

शिक्षा-विभाग के सबसे बड़े अफ़सर की की हुई इस यथार्थ स्तुति को पढ़कर टेक्स्ट बुक कमिटी के दूसरे मेम्बरों को उपदेश ग्रहण करना चाहिए।

पण्डित आदित्यरामजी नागरीप्रचारिणी सभा के सभासद हैं। टेक्स्ट बुक कमिटी में सभा अपना एक मेम्बर भेजने का बड़ा उद्योग कर रही है। परन्तु गवर्नमेंट के पूछने पर वह कहती है कि उसने पण्डितजी को इस पद के लिए अपना प्रतिनिधि नहीं चुना। क्या सभा ने पण्डितजी से भी अधिक योग्य कोई सभासद इस काम के लिये ढूँढ़ निकाला है?

भट्टाचार्य महाशय को हिन्दी से भी प्रेम है। कोई ३० वर्ष हुए उन्होंने हिन्दी में "सरस्वती-प्रकाश" नाम की एक सामयिक पुस्तक निकालने का विचार किया था। परन्तु न तो शिक्षा-विभाग ही ने इस विषय में उनकी सहायता की और न और ही किसी ने। इससे लाचार होकर आपको अपना यह सद्विचार रहित करना पड़ा। ख़ैर, इतने दिनों बाद, अब एक "प्रकाश"-हीन "सरस्वती" निकलने लगी है। आशा है, इस प्रकार, अपने विचार के एक अंश के पूर्ण हो जाने से आप प्रसन्न हुए होंगे। जब आप विद्यार्थी थे तभी

आपकी इच्छा बँगला के "सोमप्रकाश" की तरह का एक हिन्दी-अख़बार निकालने की थी; परन्तु सरकारी नौकरी स्वीकार करने पर उस इच्छा का कार्य में परिणत होना असम्भव हो गया। सरकारी नौकरी में भी आप कभी-कभी अँगरेज़ी में लेख लिखकर 'इंडियन मिरर' और 'पायनियर' में प्रकाशित कराते रहे हैं। १८८२ में, कुम्भ-मेला के विषय में, जो कई गुमनाम लेख 'पायनियर' में छपे थे, वे पण्डितजी ही की लेखनी से निकले थे।

१८६७ में पण्डितजी का ज्येष्ठ पुत्र, जिसकी उम्र २४ वर्ष की थी, परलोकगामी हो गया। यह बहुत बड़ा आघात आप पर हुआ। संसार में सुख-दुःख का जोड़ा किसी का पीछा नहीं छोड़ता। उसने भट्टाचार्य महाशय को भी अपनी अनुल्लंघनीयता का परिचय दिया। परन्तु—

> सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम्।
> आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्॥

अतएव कहने की आवश्यकता नहीं, इस दुःख को पण्डितजी ने सह डाला।

पण्डित आदित्यरामजी ने ऋजु-व्याकरण, गद्यपद्य-संग्रह और संस्कृत-शिक्षा नाम की पुस्तकें लिखी हैं। ये पुस्तकें स्कूलों में पढ़नेवाले लड़कों के लिए आपने बनाई हैं। उनको पढ़कर हज़ारों छात्रों ने लाभ उठाया है और अब तक उठा रहे हैं।

पण्डितजी ने यद्यपि नौकरी छोड़ दी है, तथापि आप टेक्स्ट बुक कमिटी के मेम्बर बने हुए हैं। यह बहुत अच्छी बात

है। इस कमिटी में पण्डितजी का होना अत्यावश्यक है। लिविस साहब ने अपनी सरटीफ़िकट में एक जगह लिखा है—

Although Pandit Aditya Ram Bhattacharya has retired from the service of Government, he has, as far as it is possible for me to form an opinion, maintained the physical, moral and mental strength for many years' labour in serving his day and generation, and amongst other things it is hoped that he will still continue to take part in the work of the Provincial Text-Book Committee.

हम इस विषय में लिविस साहब ही के साथ "तथास्तु" कहते हैं। पण्डितजी को कमिटी में ज़रूर बना रहना चाहिए। साहब ने भट्टाचार्य महाशय की शारीरिक और मानसिक अवस्था के बहुत वर्षों तक काम करने योग्य बनी रहने का जो अनुमान किया वह सच है। यही कारण है, जो पण्डितजी ने स्वदेश-भक्ति से उत्साहित होकर, अपने तजरिबे और अध्ययन-कौशल से भावी सन्तति को शिक्षित बनाने के लिए, कुछ दिनों से बनारस के हिन्दू-कालेज में शिक्षा देना आरम्भ किया है। ईश्वर आपको सदैव नीरोग और प्रसन्न रक्खे, जिससे चिरकाल तक आपके विद्यादान में त्रुटि न हो।

[दिसम्बर १९०४

४—पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र

सुखदेव मिश्र का जीवनचरित पढ़कर हमारे कई मित्रों ने हमसे कहा कि हम अपनी तरफ़ के और भी दो-एक पुण्य-शील पुरुषों का चरित प्रकाशित करें। उनकी इच्छा को पूर्ण करने के लिए, आज, हम अपने पड़ोसी पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र का चरित, थोड़े में, सुनाते हैं। मिश्रजी ३२ वर्ष तक बनारस के क्वीन्स कालेज में अध्यापक थे। इस प्रान्त के लिखे-पढ़े आदमियों में शायद ही कोई ऐसे हों जो उनको न जानते हों। हमारे पास-पड़ोस में तो, दूर-दूर तक के देहाती आदमी तक, "मथुरा मास्टर" को जानते हैं।

चित्र देखने से चरित की योग्यता बढ़ जाती है; उसमें कुछ और ही शोभा आ जाती है। उसे पढ़ने से कुछ और ही आनन्द मिलता है। परन्तु खेद है हमको मिश्रजी का चित्र नहीं मिल सका। बहुत प्रयत्न करने पर भी हमको काम-याबी नहीं हुई। सुनते हैं, उन्होंने अपना चित्र तैयार ही नहीं कराया। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। जो सादे-पन का अवतार था; अँगरेज़ी भाषा के प्रकाण्ड पण्डित होने पर भी जिसे अँगरेज़ी सभ्यता छू तक नहीं गई थी; अपने पूर्वजों की चाल-ढाल पर हिमालय के समान अचल रहने ही में

जिसे गर्व था वह अपने चित्र के लिए क्यों किसी फ़ोटोग्राफ़र को ढूँढ़ने का परिश्रम उठाता।

चित्र न मिला, न सही। पाठक, आप हमारे साथ, बनारस कालेज के हेडमास्टर के कमरे में एक मिनट के लिए चलिए और वहाँ एक बयञ्च पर ध्यानस्थ हो जाइए। भावना कीजिए कि दस बजने में कोई आध घण्टा बाक़ी है। इसी समय एक पालकी आती हुई देख पड़ो और वह कालेज के बरामदे में रख दी गई। पालकी दोनों तरफ़ से बन्द है। उसके एक तरफ़ का दरवाज़ा खुला। उससे एक पुरुष बाहर आया। उसके सिर पर बिलकुल पुरानी चाल की पगड़ी है; बदन में बिलकुल पुरानी चाल का बालाबर अँगरखा है; उस पर एक काला चोग़ा है; कन्धे पर चोग़े के ऊपर घड़ी किया हुआ, बिलकुल पुरानी चाल का, सफ़ेद डुपट्टा रक्खा है। मारकीन की धोती लम्बी लटक रही है। सिर और डाढ़ी के बाल मुँड़े हुए हैं। मूँछें बड़ी-बड़ी हैं। ओठ कुछ मोटे हैं। नाक और आँखें बड़ी हैं। शरीर-लता लम्बी पर मोटी नहीं है। रङ्ग साँवला है। ललाट पर सफ़ेद चन्दन की दो टिकलियाँ लगी हुई हैं। इस वेश और इस आकृति की वह मूर्ति कमरे के भीतर आई और अपनी कुरसी पर बैठ गई। अब तक, बिलकुल पुरानी चाल के उसके देशी जूते पालकी ही में थे। उन्हें एक चपरासी, या दफ़्तरी, उठा लाया और मेज़ के नीचे उसने रख दिया। आप यह न समझिए कि

पालकी से कमरे तक इस माननीय मूर्ति को नङ्गे पैरों चलना पड़ा। नहीं पैरों में मोज़े हैं। बस, आपने, अँगरेज़ी-सभ्यता के साथ इतनी ही रियायत की है। परन्तु कहाँ? पैरों में! पाठक, भावना के बल से यदि आपने इस शब्द-चित्र को देख लिया है तो आप पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र के चित्र को देख चुके।

पण्डितजी, कान्यकुब्ज-ब्राह्मण, हिमकर के मिश्र, थे। जिस वंश को हमारे सुखदेवजी ने अपने जन्म से पवित्र किया उसी वंश की शोभा मथुराप्रसादजी ने भी बढ़ाई। कानपुर के पास काकूपुर एक गाँव है। मिश्रजी के पूर्वज वहाँ रहते थे। उनके पिता ने काकूपुर छोड़ दिया और उनाव के ज़िले में, भगवन्तनगर के पास, हमीरपुर में जाकर रहने लगे। बहुत दिनों तक वे वहाँ रहे। हमीरपुर से गङ्गातट कोई छः-सात मील था। उनाव ही के ज़िले में एक गाँव बकसर है। वह गङ्गा के बिलकुल किनारे है। वहाँ चण्डिका-देवी का एक बहुत पुराना मन्दिर है। मिश्रजी के एक सम्बन्धी वहाँ रहते थे। अतएव उनकी सलाह से, १८७० ईसवी में, मिश्रजी ने हमीरपुर छोड़ा और बकसर में घर बनवाया। मिश्रजी के पिता ने अपने पिता का गाँव छोड़ा। क्या इसी से पण्डितजी ने भी अपने पिता का गाँव छोड़ दिया? जब से मिश्रजी बकसर आये तब से वे हमारे पड़ोसी हुए। हमारे जन्म-ग्राम से यह ग्राम केवल दो मील है। पण्डित मथुराप्रसाद के पितामह का

नाम वैद्यनाथ था। उनका विवाह उनाव के ज़िले में, सुमेरपुर नामक गाँव में, हुआ था। यह गाँव भगवन्तनगर और हमीरपुर से थोड़ी ही दूर है। इसी योग से मिश्रजी के पिता, पण्डित सेवकराम, कानपुर का ज़िला छोड़कर उनाव के ज़िले में आये। वहाँ, हमीरपुर में, २० जुलाई, १८२६ ईसवी को, पण्डित मथुराप्रसाद का जन्म हुआ।

पण्डित मथुराप्रसाद के पिता बनारस में नौकर थे। बनारस कालेज के अध्यक्ष, ग्रिफ़िथ साहब, के समय के पुराने चपरासियों का कथन है कि पण्डितजी के पिता बनारस में किसी बहुत छोटे काम पर थे। परन्तु एक और मार्ग से जो बातें हमको मालूम हुई हैं उनसे जान पड़ता है कि वे किसी बङ्गाली राजा के यहाँ कारिन्दा थे। शायद पीछे से वे कारिन्दा हुए हों। कुछ भी हो, यह सिद्ध है कि वे बहुत अच्छी दशा में न थे।

पण्डितजी की उम्र पाँच वर्ष की थी जब वे अपने पिता के पास बनारस गये। वहाँ जाने के दो ही वर्ष बाद उनके बड़े भाई का शरीरपात हुआ और उनकी माता भी परलोक पधारीं। इतनी छोटी अर्थात् सात वर्ष की उम्र में मातृहीन होना बड़ी दुःसह विपत्ति है। पर ऐसी दुर्व्यवस्था होने पर भी, अपने पिता की प्रेरणा से, मिश्रजी ने विद्याभ्यास आरम्भ किया। कुछ समय के अनन्तर उन्होंने गवर्नमेंट कालेज में प्रवेश किया। यद्यपि उनको कई तरह के सुभीते न थे, तथापि उन्होंने सब

बाधाओं को तुच्छ समझकर अध्ययन में चित्त लगाया। सुनते हैं, ये सदैव अपने दरजे में सबसे ऊँचे रहते थे और जितनी परीक्षायें होती थीं, सबमें, इनको पारितोषिक मिलता था। उस समय यूनीवर्सिटी की स्थापना न हुई थी; एम० ए०, बी० ए० का कहीं नाम न था। एन्ट्रन्स, अर्थात् प्रवेशिका, परीक्षा तक जारी न हुई थी। कालेज में केवल दो विभाग थे—एक जूनियर, दूसरा सीनियर। १८४६ ईसवी में पण्डित मथुराप्रसाद सीनियर क्लास में पहुँच गये। उसमें उनका आसन सब विद्यार्थियों के ऊपर हुआ। बनारस-कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष डाक्टर वालेंटाइन ने अपनी दी हुई सरटीफ़िकट में ऐसा ही लिखा है। मिश्रजी ने अपनी तीव्र-बुद्धि, विद्याभिरुचि और योग्यता से अपने अध्यापकों को सदा प्रसन्न रक्खा।

पण्डितजी ने १८४६ ईसवी, अर्थात् २० वर्ष की उम्र, में विद्याध्ययन समाप्त किया। समाप्त उन्होंने क्या किया, उन्हें करना ही पड़ा। उससे आगे अध्ययन का प्रबन्ध ही न था। यदि पण्डितजी ने सात वर्ष की उम्र में पढ़ना आरम्भ किया तो १३ वर्ष में उसकी समाप्ति हुई। इससे यह अनुमान होता है कि पहले यदि हिन्दी और संस्कृत पढ़ने में उनको ६ वर्ष लगे तो ७ वर्ष तक उन्होंने अँगरेज़ी पढ़ी। उस समय इतना पढ़ना बहुत काफ़ी था। और इस बात को अपनी विद्वत्ता से पण्डितजी ने अच्छी तरह सिद्ध भी कर दिखाया।

कालेज की शिक्षा समाप्त होने पर पण्डितजी को गवर्नमेंट ने यञ्जिनियरी का काम सीखने के लिए ग़ाज़ीपुर भेजा। वहाँ एक यञ्जिनियर के पास रहकर उन्होंने वह काम सीखा। वहाँ से लौट आने पर उन्होंने क़ानून का अभ्यास आरम्भ किया। इसी बीच में बनारस-कालेज में थर्ड (तीसरे) मास्टर की जगह ख़ाली हुई। कालेज की कमिटी पण्डितजी की योग्यता को अच्छी तरह जानती थी। इसलिए उसने उनको, ७५ रुपये महीने पर, परीक्षा के तौर पर, थर्ड मास्टर नियत किया। १८४७ ईसवी के एप्रिल में इस जगह पर उनकी नियुक्ति हुई। इससे स्पष्ट है कि यञ्जिनियरी और क़ानून का अभ्यास उन्होंने केवल वर्ष ही डेढ़ वर्ष किया। थर्ड मास्टरी पर उनकी परीक्षा बहुत दिनों तक होती रही। दिनों नहीं, वर्षों तक कहना चाहिए। सात वर्ष के बाद गवर्नमेंट ने उनको इस पद पर दृढ़ रूप से नियुक्त किया। ३१ मई १८५४ ईसवी को वे पूरे थर्ड मास्टर हुए और उनका वेतन ७५ से १५० रुपये हो गया।

थर्ड मास्टरी पर काम करते मिश्रजी को तीन वर्ष भी न होने पाये थे कि १८५७ ईसवी के आरम्भ में, इस प्रान्त के तत्कालीन लफ़्टिनेंट गवर्नर माननीय कालविन साहब के मन में बनारस-कालेज के अध्यापकों की परीक्षा लेने की धुन समाई। सुनते हैं, यह बात मिश्रजी को बहुत नागवार हुई। यहाँ तक कि लफ़्टिनेंट गवर्नर के सेक्रेटरी को उन्होंने दो-चार कड़ी-कड़ी

बातें भी सुनाईं। परन्तु परीक्षा किसी तरह टली नहीं। देनी पड़ी। उनको कालविन साहब के डेरे पर जाना पड़ा। वहाँ साहब ने जो कुछ उनसे पूछा उसका उन्होंने ऐसा अच्छा उत्तर दिया कि साहब उन पर बहुत ही प्रसन्न हुए। इस प्रसन्नता के उपलक्ष्य में उन्होंने मिश्रजी को उनका नाम खुदवा-कर एक घड़ी पुरस्कार में दी। यही नहीं, किन्तु १८ जन-वरी, १८५७, से मिश्रजी को साहब ने सेकेन्ड (दूसरा) मास्टर करके उनका वेतन १५० से २०० रुपये कर दिया। दैवयोग से उस समय यह जगह ख़ाली थी।

पण्डित मथुराप्रसादजी ११ वर्ष तक सेकेन्ड मास्टर रहे। १८६८ ईसवी के मई महीने में हेडमास्टरी ख़ाली हुई। उस समय डाइरेक्टर साहब की तजवीज़ यह हुई कि बरेली के स्कूल से एक मास्टर क्वीन्स-कालेज में लाये जायँ और उन्हीं को हेडमास्टरी मिले। परन्तु, उस समय, ग्रिफ़िथ साहब कालेज के प्रधान अध्यापक थे। पण्डितजी पर उनकी बेहद कृपा थी। उन्होंने प्रयाग के छोटे लाट, सर विलियम म्योर, से पण्डितजी की सिफ़ारिश करके उन्हीं को हेडमास्टरी दिला दी। पण्डितजी इस पद के सर्वथा योग्य थे; और ग्रिफ़िथ साहब और गवर्नमेंट ने जो कुछ किया सर्वथा न्याय्य किया। तब से पण्डितजी का मासिक वेतन ४०० रुपये हो गया।

पण्डितजी ने दस वर्ष तक बड़ी ही योग्यता से हेडमास्टरी की। जब उनको नौकरी करते ३२ वर्ष हो चुके तब, अर्थात्

१८७८ ईसवी में, उन्होंने २००) मासिक पर पंशन ले ली। तब से उनका समय विशेष करके भजन-पूजन ही में व्यतीत होने लगा।

मिश्रजी समय के बड़े पाबन्द थे। सदैव ठीक समय पर कालेज जाते थे। समय पर क्या, उसके पहले ही वे पहुँच जाते थे। एक मिनट की देरी नहीं होती थी। उनके समय में लड़के क्या मास्टर तक सब समय पर आते और अपना-अपना काम करते थे। जो लड़के देर से आते थे उन पर उनकी बड़ी तीव्र दृष्टि रहती थी। पण्डितजी के अधीन जो मास्टर थे वे तक उनसे डरते थे। स्कूल में उनका आतङ्क सा जमा था। कोई लड़का या मास्टर सिर खोलकर क्लास में न बैठने पाता था। उनके समय में जानदास नामक एक किरानी मास्टर थे। उनको पण्डितजी ने साफ़ा बाँधने के लिए मजबूर किया। जानदास ने ग्रिफ़िथ साहब से शिकायत की। साहब ने मिश्रजी के पक्ष में फ़ैसला किया। उन्होंने जान से कहा कि तुम्हारा धर्म्म क्रिश्चियन है; परन्तु तुम्हारा देश हिन्दुस्तान है। इसलिए तुमको हिन्दुस्तानी पहनाव पहनना चाहिए।

पण्डितजी के अनेक छात्र इस समय बड़े-बड़े पदों पर हैं। परलोकवासी सैयद महमूद ने बहुत दिनों तक उनसे पढ़ा था। उनके विद्यार्थियों में से हमारे एक मित्र पण्डित युगलकिशोर वाजपेयी हैं। वे इस समय चरखारी-राज्य में एक अच्छे

ओहदे पर हैं। उनका कथन है कि जहाँ तक वे जानते हैं, मिश्रजी ने कालेज से कभी छुट्टी नहीं ली; कभी वे बीमार नहीं हुए; और कभी वे देरी से नहीं आये। उनकी याद में एक बार मिश्रजी को कालेज में जाड़ा देकर ज्वर आ गया। इससे जब अपनी चौकी पर उनसे किसी तरह न बैठे रहा गया तब वे बाहर बरामदे में चले गये। वहाँ अपनी पालकी के भीतर वे सिकुड़कर बैठ गये। इधर लड़के यह जानकर ख़ुश हुए कि आज इनसे पिण्ड छुटा। परन्तु केवल १५ मिनट हुए थे कि मिश्रजी फिर अपनी कुरसी पर आकर डट गये।

सुनते हैं, पण्डितजी के मिज़ाज में सख़्ती बहुत थी। इसी से कालेज से सम्बन्ध रखनेवाले लोग उनको ज़रा कम पसन्द करते थे। पहले पण्डितजी घर से कालेज तक अपनी पालकी के दरवाज़े खोलकर आते थे। परन्तु पीछे से पालकी के दरवाज़े बन्द करके वे कालेज जाने लगे। यह परिवर्तन शायद उनकी किसी सख़्ती ही के परिणाम का सूचक हो।

पण्डितजी क़ायदे के भी सख़्त पाबन्द थे। इसी से वे चाहते थे कि और लोग भी उन्हीं का अनुकरण करें। परन्तु सब लोग "मथुराप्रसाद" न थे। उनसे सख़्ती न होती थी। वे थोड़ी-थोड़ी बात के लिए लड़कों की रिपोर्ट न करते थे। यह बात मिश्रजी को पसन्द न थी। पण्डित दीनदयालु तिवारी, इस समय, इस प्रान्त में, मदरसों के असिस्टंट इन्सपेक्टर हैं। मिश्रजी के समय में वे उनके अधीन

कोन्स-कालेज में मास्टर थे। उनके किसी काम से अप्रसन्न होकर मिश्रजी ने प्रधान अध्यापक से उन पर दण्ड कराया। परन्तु पण्डित दीनदयालुजी ने साहब से मिलकर वह दण्ड माफ़ करा लिया। इस पर मिश्रजी बहुत नाराज़ हुए और इस घटना को वे जन्म भर नहीं भूले। उनकी मृत्यु के कुछ ही समय पहले, एक दिन, असिसटंट इन्सपेक्टरी की दशा में, पण्डित दीनदयालुजी ने मिश्रजी से अपने उस अपराध की क्षमा माँगकर उनको सन्तुष्ट किया। इससे जान पड़ता है कि मिश्रजी कुछ क्रोधी भी थे।

पण्डित युगलकिशोर वाजपेयी चरखारी जाने के पहले एक बार पण्डित मथुराप्रसाद के पास गये और उनसे उन्होंने कुछ उपदेश चाहा। आपने बहुत सूक्ष्म उपदेश दिया। आपने अँगरेज़ी के तीन शब्द कहे "satisfy your conscience" अर्थात् अन्तःकरण को सन्तुष्ट करो। मतलब यह कि जो काम करने को तुम्हारा दिल गवाही दे उसी को करो। जिसे करने को दिल न गवाही दे उसे कभी मत करो। उपदेश बहुत अच्छा दिया।

पण्डितजी की अँगरेज़ी-विद्वत्ता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। वे बड़े ही अध्ययनशील थे। इसी से ग्रिफ़िथ साहब उन पर सबसे अधिक प्रसन्न थे। वे ऐसी अच्छी अँगरेज़ी बोलते थे—उनका उच्चारण ऐसा अच्छा था—कि यदि वे एक कमरे के किवाड़े बन्द करके भीतर से बोलें तो बाहर से सुननेवाले अँगरेज़ों

को भी कभी स्वप्न में भी यह सन्देह न हो कि कोई हिन्दुस्तानी बोल रहा है। ऐसा अद्वितीय वक्ता हेडमास्टर पाने का ग्रिफ़िथ साहब को बड़ा गर्व था। वे बहुधा पण्डितजी के कमरे में आते थे; परन्तु सुनते हैं पण्डितजी उनके कमरे में बिना बुलाये कभी न जाते थे। जब कोई अँगरेज़ अधिकारी कालेज में आता था तब ग्रिफ़िथ साहब उसे पण्डितजी से अवश्य मिलाते थे और उनकी विलक्षण वक्तृता उसे सुनाते थे।

उनके एक विद्यार्थी का कथन है कि एक बार मिश्रजी लड़कों को पढ़ा रहे थे कि अध्यापक केबुल साहब ने अपने कमरे में उनको बुलाया। उस समय, शीघ्रता में, पण्डितजी के मुँह से निकल गया—Let the boys be explained the passage पर कहना चाहिए था—Let the passage be explained to the boys. इसका पण्डितजी को बहुत दिनों तक रञ्ज रहा।

विलायत जाने के पहले बनारस-कालेज के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक (प्रिंसपल) जेम्स आर० बालेंटाइन साहब, एल-एल० डी० ने पण्डितजी को जो सरटीफ़िकट दिया है उसमें उन्होंने मानों पण्डितजी का जीवनचरित थोड़े में कह सुनाया है। उसमें और-और बातों के सिवा पण्डितजी की नियम-निष्ठा, विद्या-प्रेम, कार्य-दक्षता और सच्चरित्रता की भी ख़ूब प्रशंसा की है। उसकी यथातथ्य नक़ल हम आगे देते हैं—

Ever since I first joined the Benares College, I have known Babu Mathura Prasad

Misra. He was then a senior scholar, in the last year of his pupilage, and at the top of his class.

In 1846 he was sent, under the orders of Government, to Ghazipur to study Civil Engineering with the Engineer then there. On his return from Ghazipur he studied law and the Government regulations. Afterwards the third mastership of the College becoming vacant and no quite suitable person being found to fill it, the Local Committee appointed him in April, 1847, to officiate as third master. After nearly seven years' trial the Government confirmed him in the appointment. In the beginning of 1857 the late Honourable Mr. Colvin, the Lieutenant Governor of the North-Western Provinces, summoned him to his camp, put him through an examination and as a mark of approbation presented him with a watch, at the same time promoting him to the second mastership which was then vacant. He has been punctual and zealous in the discharge of his duties, and as a teacher, he has always given great satisfaction to the Head-master, Professor Griffith. I have been glad to observe that he has always continued to show himself singularly fond

of study and I believe his labours, as a teacher, have not been confined to school hours.

He is a polite and well-bred man and his conduct and character are, to the best of my belief, unimpeachable.

I give him this testimonial on my leaving India finally.

(Sd.) James R. Ballantyne,
Principal and Secretary, L. C. P. J.

Benares College,
The 13th December, 1860.

इस सरटीफ़िकट की तारीख़ १३ दिसम्बर १८६० ईसवी है। पण्डित मथुराप्रसाद ने कई पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से कुछ के नाम हम नीचे देते हैं—

नम्बर	नाम	समाप्त होने का समय
१—	लघुकौमुदी का हिन्दी-अनुवाद	१४ आक्टोबर, १८५६ ई०
२—	बाह्यप्रपञ्च-दर्पण	१८५८ ई०
३—	Trilingual Dictionary अर्थात् त्रैभाषिक कोश (हिन्दी, उर्दू, अँगरेज़ी)	दिसम्बर, १८६५ ई०
४—	तत्त्वकौमुदी (व्याकरण) का हिन्दी-अनुवाद	एप्रिल, १८६८ ई०
५—	प्राइमर	२५ जुलाई, १८६८ ई०

नम्बर	नाम	समाप्त होने का समय
६	—प्रैक्टिकल इँगलिश........	दिसम्बर १८७३ ई०
७	—सिलेक्ट रूट्स......	नहीं मालूम
८	—मन्त्रोपदेश-निर्णय......	नहीं मालूम
९	—चाणक्य-नीतिदर्पण......	नहीं मालूम

इन पुस्तकों में से प्रैक्टिकल इँगलिश और त्रैभाषिक कोश बड़े काम की पुस्तकें हुईं। प्रैक्टिकल इँगलिश तो बहुत दिनों तक स्कूलों में जारी थी। उसमें अँगरेज़ी लिखने के नियम और वाक्यों के उदाहरण बहुत ही अच्छे हैं। इस पुस्तक का संशोधन स्वयं ग्रिफ़िथ साहब ने किया था। अँगरेज़ी भाषा के प्रचार में इस पुस्तक ने बड़ी सहायता पहुँचाई। स्कूल में हमने भी इसे पढ़ा था। उसका बीज अभी तक हमारे हृदय में है— Little boys often lose their lives by going into deep water. इत्यादि वाक्य अभी तक हमको याद हैं। यह पुस्तक यद्यपि इस समय स्कूलों में नहीं पढ़ाई जाती, तथापि अँगरेज़ी भाषा में शीघ्र प्रवेश पाने की इच्छा रखनेवाले इसे अब भी बड़े प्रेम से पढ़ते हैं।

परन्तु त्रैभाषिक कोश लिखकर पण्डितजी ने सबसे अधिक नाम पैदा किया। उससे सर्वसाधारण को लाभ भी ख़ूब पहुँचा। इस कोश को देखकर इस प्रान्त की गवर्नमेंट इतनी ख़ुश हुई कि उसने पण्डितजी को ५००) की क़ीमत की ख़िलत दी और यह सनद भी भेजी—

To Sunud.

Baboo Mathura Prasad, second master, Benares College, Benares.

Sir,

The Honourable the Lieutenant Governor, North-Western Provinces, having been informed of the accuracy and scholarship displayed in the Trilingual Dictionary, on the preparation of which you have expended the labour of several years, has been pleased, in order to mark his approbation of the service rendered by you to the cause of education, to confer a Khillut upon you of the value of Rs. 500, which will be presented to you by the Commissioner of the Benares Division.

(Sd.) R. Simson,
Secretary to the Government
of N. W. P., Allahabad.
The 2nd of April, 1866.

गवर्नमेंट ने पण्डितजी की विद्वत्ता की प्रशंसा उत्कीर्ण कराकर एक सोने का पदक उनको पुरस्कार में दिया और उसके साथ ही हीरा लगी हुई सोने की एक क़लम भी। यही ख़िलत थी। इस कोश की रचना में पण्डितजी को बड़ा

परिश्रम पड़ा। पर ग्रन्थ बहुत अच्छा बना। उन्होंने इसमें अँगरेज़ी भाषा के शब्दों की उत्पत्ति और उनके अर्थ अँगरेज़ी, हिन्दी और उर्दू में बड़ी ही योग्यता से लिखे हैं। इसकी प्रशंसा उस समय के प्रायः सभी अँगरेज़ी-अख़बारों ने की थी। इसकी समालोचना जिसे देखना हो वह १३ फ़ेब्रुअरी, १८६६ का देहली-गज़ट, १५ फ़ेब्रुअरी, १८६६ का फ्रेंड आफ़ इंडिया, २४ फ़ेब्रुअरी, १८६६ का वीकली न्यूज़ और २६ फ़ेब्रुअरी, १८६६ का पायनियर देखे। इँगलेंड के अख़बारों ने भी इसकी ख़ूब प्रशंसा की थी। सचमुच पण्डितजी ने इस कोष में अपनी अपार विद्वत्ता का परिचय दिया है। यह पुस्तक उन्होंने बनारस के मेडिकल हाल-प्रेस के मालिक, डाक्टर लाज़रस, को दे दी। उन्हीं ने इसे छापा। वही प्रेस इसे अब तक बेंचता है। कोशों में इसका बड़ा आदर और प्रचार है।

पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र हिन्दी के बड़े पक्षपाती थे। यह बात उन्होंने अपने कोश में अच्छी तरह स्पष्ट कर दी है। हिन्दी के विषय में उनकी कितनी पूज्य बुद्धि थी, उसके प्रचार को वे कहाँ तक अच्छा समझते थे और उसे वे कितने विस्तार और कितनी योग्यता का जानते थे यह बात उन्होंने अपने कोश की भूमिका में, साफ़-साफ़, लिखी है। उनके अँगरेज़ी लेख का कुछ अंश हम नीचे देते हैं—

The easiest common Hindi should be employed, wherever it will suffice. But when its

resources fail, preference should decidedly be given to Sanskrit over a foreign tongue. There may be instances in which the reverse will hold good. But these instances must form the exception, not the rule. In cas es in which the stores of Hindi would answer well, exotic words should not be used in writings professedly Hindi. With very regard for those that differ from me, I aver that their favourite jargon—by no better name can I call their language—the farrago of Arabic, Persian, Urdu, Sanskrit and Hindi—serves, at best, only to provoke a contemptuous smile in men of taste. But some would perhaps kill Hindi. They think it is dismissed from society, and is, therefore, synonymous with rusticity, that it leads to no practical good, hence it must needs be discouraged. They should bear in mind that Hindi has retired from the court and general society by the force of circumstances.

The encroachments of Persian and Urdu have proved too much for it. Its case is analogous to that of English immediately after the Norman conquest. The language of the conquerors became the language of law and likewise, of society, to a very large extent. But

though Hindi, like a modest maid, has withdrawn from the public gaze in towns and cities, yet it has ever been present around our hearths and amid our family circles. Our mothers and sisters, our wives and daughters, exchange ideas only in genuine forms of Hindi. Gentlemen in the highest walks of life, while in the public audience, do hold converse in elegant Urdu. But when they are by themselves, with their dependents among their female relations, the scene is changed. Good home-bred expression of Hindi then almost exclusively escapes their lips or charms their ears. I now ask, why should Hindi spoken at home by the greatest and most learned be described as barbarous ? Again, on the ground of utility too, Hindi merits encouragement. Beyond the pale of law, Hindi is found more useful than Urdu. In ordinary life, the former is more serviceable to Hindus than the latter. It is needed in the pettiest grocer's shop as well as in the most respectable firm. In the rural districts, its use is more general. It does not indeed help us to good situations, but that does not warrant us in desiring its extinction.

There are far higher ends to be served.

The character of the mass of the people is to be raised. They must be taught to read and write—must be made to learn the truths of the West—not in the language of those by whom they were ill-treated, abused and oppressed for successive generations, but in the genial speech of their ancestors, which is their invaluable inheritance. National education must be conducted through the proper vernacular, if we desire success.

जो लोग अँगरेज़ी जानते हैं हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे इस कोश की भूमिका को अवश्य पढ़ें। इससे हिन्दी के विषय में पण्डितजी की राय अच्छी तरह मालूम हो जायगी और उनकी अँगरेज़ी का नमूना भी देखने को मिल जायगा।

पण्डितजी की तत्त्वकौमुदी और उनका किया हुआ लघु-कौमुदी का हिन्दी-अनुवाद भी हमने देखा है। दोनों बहुत अच्छी पुस्तकें हैं। उनकी और पुस्तकें देखने का सौभाग्य हमें नहीं प्राप्त हुआ। अतः हम नहीं जानते कि बाह्य-प्रपञ्च-दर्पण, मन्त्रोपदेश-निर्णय और चाणक्य-नीति-दर्पण संस्कृत में हैं या हिन्दी में। ये पुस्तकें क्यों लिखी गईं, कितनी बड़ी हैं और कैसी हैं, यह भी हम नहीं जानते। पण्डितजी का वृत्तान्त बतलानेवाले ऐसे हैं कि शिव, शिव!

पण्डित मथुराप्रसादजी के पिता, पण्डित सेवकरामजी, पुत्र के पेंशन लेने के कई वर्ष पीछे तक जीवित थे। १८८७

ईसवी में, ८६ वर्ष के होकर, वे परलोकगामी हुए। उनकी और्ध्वदैहिक क्रिया मिश्रजी ने विधिपूर्वक की और अन्त तक वे श्राद्ध तथा तर्पण करते रहे।

पण्डितजी बड़े ही कर्म्मठ ब्राह्मण थे। उनके बराबर धर्म्मभीरु और पुरानी चाल-ढाल का आदमी शायद ही कोई और हो। उनको छुवाछूत का बड़ा विचार था। कालेज में ऐसे-वैसे आदमी उनके कमरे में न आने पाते थे। वे बरामदे में रहते थे और आप अपने कमरे के भीतर से उनसे बातें करते थे। पीछे से तो वे हिन्दुओं तक को छूने में हिचकते थे। एक बार हमारे एक मित्र उनसे मिलने गये। उनके डाढ़ी थी। उसे देखकर मिश्रजी ने उन्हें बाहर ही रोका; भीतर आने ही न दिया। जब उनको मालूम हुआ कि आगन्तुक व्यक्ति हिन्दू है और उनका विद्यार्थी है तब आपने उन्हें भीतर बुलाया। आगन्तुक ने भीतर जाकर भक्ति के उद्रेक में मिश्रजी के चरणस्पर्श किये। मिश्रजी ने आशीर्वाद तो दिया, परन्तु तत्काल ही अपने सिर पर गङ्गाजल छिड़का!

मिश्रजी जब तक कालेज में थे तब तक प्रातःकाल ४ बजे उठते थे और शौच से निवृत्त होकर, गङ्गास्नान करते थे। फिर सन्ध्योपासन और विष्णु-सहस्रनाम का पाठ करके वे लेखन और पुस्तकावलोकन में लग जाते थे। ९ बजे भोजन करके वे कालेज जाते थे और वहाँ से ४ बजे आते थे। आकर कालेज के कपड़े उतारकर उन्हें अलग रख देते थे। तब गङ्गाजल

ऊपर छिड़ककर वे धोये हुए कपड़े पहनते थे और फिर पुस्तकावलोकन में मग्न हो जाते थे। अनन्तर सायंसन्ध्योपासन करके फिर भी वे पुस्तक हाथ में ले लेते थे। रात को वे केवल दूध पीते थे। यह दिनचर्या उनकी बराबर ३२ वर्ष तक बनी रही। परन्तु उनके एक विद्यार्थी का कहना है कि पण्डितजी भ्रमण के लिए भी जाया करते थे और शाम को लोगों से मिलते भी थे। वे यह भी कहते हैं कि सबेरे मिश्रजी केवल जलपान करके कालेज जाते थे; भोजन वे नित्य सायङ्काल ही करते थे।

पेंशन लेने पर पण्डितजी की दिनचर्या बदल गई थी। उस समय वे सबेरे उठकर गङ्गास्नान करते थे। फिर गायत्री का जप। गीता-पाठ और तर्पण इत्यादि करते ११ बजते थे। तब वे अपने हाथ से भोजन बनाते थे। कभी-कभी वे महीनों तक केवल दूध पीकर रह जाते थे। दोपहर से चार बजे तक वेदान्त का विचार करते थे; फिर लोगों से मिलते थे। सायङ्काल, सन्ध्योपासन के अनन्तर, वे फिर कुछ जप इत्यादि करते थे। ८ बजे वे दूध पीते थे। तब एकान्त में बैठकर वे माला फेरते थे। रात को १० बजे वे सोते थे। इस प्रकार १९ वर्ष तक अपनी दिनचर्या रखकर, १८ नवम्बर १८९७ ईसवी को, ७२ वर्ष की उम्र में, काशी में, गङ्गा के तट पर, उन्होंने शरीरत्याग किया। उस दिन उनके सम्मान में बनारस-कालेज बन्द रहा।

पण्डितजी हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अँगरेज़ी और बँगला ये पाँच भाषायें जानते थे। संस्कृत आप अच्छी जानते थे। अच्छी यदि न जानते तो व्याकरण का हिन्दी-अनुवाद कैसे कर सकते? उनमें अँगरेज़ी की विद्वत्ता बहुत बड़ी थी। उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है; आगे भी कुछ होगा। सुनते हैं, आप फ़ारसी भी जानते थे।

बनारस के बाबू श्यामाचरण, सब-जज, गवर्नमेंट कालेज के प्रधानधर्माध्यक्ष पण्डित देवदत्त और पण्डित शिवनारायण मिश्र, पण्डित मथुराप्रसाद के आभ्यन्तरिक मित्र थे।

पण्डित मथुराप्रसाद बड़े संयमी, बड़े नियमनिष्ठ और बड़े ही सञ्चयशील थे। संयम का यह हाल था कि उनके गाँव बकसर में लोगों ने उनको भोजन की सामग्री तौलकर खाते देखा है। नियम-निष्ठा उनकी ऐसी थी कि जो समय उन्होंने मिलने का रक्खा था उसका अतिक्रम करके और किसी समय किसी से वे न मिलते थे, मिलनेवाला चाहे कैसा ही बड़ा आदमी क्यों न हो। सञ्चयशीलता भी उनकी बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने बहुत धन इकट्ठा किया। सुनते हैं, वे अपना रुपया रियासतों को सूद पर देते थे। इस कारण बहुत सा रुपया डूब भी गया। उनके पुत्र ने कोई व्यापार किया था; उसमें भी शायद कुछ रुपया बरबाद गया। परन्तु मिश्रजी ने अपने रुपये का बहुत कुछ सद्व्यय भी किया। कुछ समय से वे अपने वंशज हिमकर के मिश्रों की असहाय विधवाओं को दो

रुपया महीना वृत्ति देने लगे थे। निर्धनता के कारण जिन हिसकर-वंशीय उपवर कन्याओं का विवाह न हो सकता था उनके विवाह के लिए भी वे रुपया देते थे। यह प्रबन्ध मिश्रजी के पुत्र पण्डित शिवनन्दनप्रसाद भी, सुनते हैं, थोड़ा-बहुत चलाये जाते हैं।

पण्डित मथुराप्रसाद बड़े ही दृढ़प्रतिज्ञ थे। आज्ञाभङ्ग से क्रोध भी उनको महाकाल ही का जैसा आता था। पढ़ने-लिखने या शायद और किसी विषय में अपनी आज्ञा का उल्लङ्घन करने के अपराध में, उन्होंने अपने एकमात्र पुत्र, शिवनन्दनप्रसाद, को अलग कर दिया और शायद अन्त तक पिता-पुत्र से प्रत्यक्ष बातचीत नहीं हुई! मिश्रजी के पिता और मिश्रजी की पत्नी ने पण्डित शिवनन्दनप्रसाद का साथ छोड़ना न चाहा। इसलिए मिश्रजी उनसे भी अलग हो गये। ये अलग रहते रहे और वे अलग। परन्तु मिश्रजी ने कभी किसी बात की नहीं होने दी। उनके आराम से रहने का प्रबन्ध आपने बहुत अच्छा किया, पीछे से उन्होंने अपना यह पृथक्त्व कुछ शिथिल कर दिया था।

पण्डितजी के अनन्तर उनकी जायदाद के पूरे मालिक उनके पुत्र पण्डित शिवनन्दनप्रसाद हुए हैं। वे भी सज्जन हैं; संस्कृत जानते हैं; और अँगरेज़ी में भी उनकी कुछ गति है। वे क्या करते हैं, हम ठीक-ठीक नहीं जानते। सम्भव है, उन्होंने कुछ ज़मीदारी इत्यादि मोल ली हो; या लेन-देन का

सिलसिला जारी किया हो; और उसी में लगे रहते हों। उनकी इच्छा थी कि अपने पिता के नाम से एक छोटी सी वैदिक पाठ-शाला बनारस में जारी करें। शायद यह पाठशाला खुल भी गई है। दशाश्वमेध-घाट पर, ठीक गङ्गाजी के किनारे, पण्डित मथुराप्रसाद का बनाया हुआ एक मकान है। उसी में शायद यह पाठशाला खुली है। क्या पढ़ाया जाता है, कितने अध्यापक हैं, कितने छात्र हैं, क्या नियम हैं, यह हमें मालूम नहीं।

दशाश्वमेध-घाटवाले मकान के सिवा बनारस में पण्डितजी के और भी दो-एक मकान हैं। उनके गाँव बकसर में भी उनका एक मकान है। पण्डितजी के जीवन-काल में बकसर-वाला मकान बिलकुल कच्चा था और बुरी हालत में था। पर पण्डित शिवनन्दनप्रसाद ने उसका जीर्णोद्धार करके उसे अच्छा बना दिया है।

पण्डित शिवनन्दनप्रसाद के कोई सन्तति नहीं। इस कारण उन्होंने एक युवक को गोद लिया है। हम नहीं जानते कि सुयोग्य पण्डित शिवनन्दनप्रसाद ने अपने दत्तक पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का क्या प्रबन्ध किया है। उनसे हमारी प्रार्थना है कि यह समय सिर्फ़ सामगायन का नहीं। कुछ और भी करना चाहिए, जिसमें पण्डित मथुराप्रसाद जैसे विख्यात विद्वान् के वंश में विद्या का ह्रास न हो। मिश्रजी बहुत बड़े विद्वान् थे। बड़े से बड़े आदमी तक उनको आदर की दृष्टि से देखते थे। प्रसिद्ध विद्वान् हाल साहब ने हिन्दी रीडर नाम की एक पुस्तक बना-

कर उसे मिश्रजी को समर्पण किया था। बनारस से चले जाने पर भी ग्रिफ़िथ साहब नीलगिरि से मिश्रजी के साथ पत्र-व्यवहार रखते थे। अतएव उनके वंशजों में विद्या का बना रहना बहुत आवश्यक है।

पण्डित मथुराप्रसाद से हमारा प्रत्यक्ष परिचय था। पेंशन लेने बाद, गरमी के दिनों में, वे अपने गाँव बक्सर आया करते थे। वहाँ वे दो-तीन महीने रहते थे। वर्षा का आरम्भ होने पर वे बनारस लौट जाते थे। इन्हीं दिनों में जब हम अपने घर छुट्टी पर आते थे तब पण्डितजी से मिलते थे। प्रेमपूर्वक वे हमसे मिलते थे और जल्दी-जल्दी आने के लिए अनुरोध करते थे। पहले दिन जब हम आपसे मिलने गये तब हमने देखा कि आप पैरों में किरमिच का जूता पहने, सिर घुटाये, मस्तक पर चन्दन का खौर लगाये, कन्धे पर एक छोटा सा मोटे कपड़े का अँगौछा रक्खे और बदन में मोटे कपड़े की सिर्फ़ धोती पहने हुए, अपने कच्चे मकान की चौपाल में खड़े हैं। पास ही एक छोटी सी चारपाई बिछी है। उसके बीच में एक छोटा सा, शायद गाढ़े का, बिछौना पड़ा है। सिर-हाने, तकिये के नीचे, लाल जिल्द की एक किताब रक्खी है। हमारे साथ, उन्हीं के गाँव के, एक पण्डित थे। परिचय होने पर आपने अनेक विषयों पर हमसे बातचीत की। संस्कृत-कविता पर भी बात चली। बातों-बातों में कोई ऐसा मौक़ा आया कि हमने बिल्हण का यह श्लोक पढ़ा—

प्रौढ़िप्रकर्षेण पुराणरीतिव्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम् ।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ॥

इसके अर्थ का विचार करके आप बेतरह हँस पड़े। तब से, जब कभी हम जाते थे, दो-एक श्लोक हमसे सुने बिना आप न रहते थे। मिश्रजी को एक बात की बड़ी शिकायत थी। वे कहते थे कि हमारी तरफ़ के संस्कृतज्ञ पण्डितों का उच्चारण प्रायः बहुत ही अशुद्ध होता है। यह बात बहुधा है भी ठीक। इसी से शुद्धोच्चारणपूर्वक कहे गये श्लोक सुनकर वे बहुत प्रसन्न होते थे। उच्चारण में वे दाक्षिणात्य पण्डितों की प्रशंसा करते थे। इसी से, वे कहते थे कि पण्डित शिव-नन्दनप्रसाद को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक दक्षिणदेशीय पण्डित को रक्खा था।

पूछने पर मालूम हुआ कि तकिये के नीचे जो पुस्तक थी वह गीता थी; परन्तु थी वह अँगरेज़ी में। इस पर हमने आक्षेप किया। आपने उत्तर दिया कि लड़कपन से हम अँगरेज़ी के प्रेमी हैं; हमारी रग-रग में अँगरेज़ी भाषा घुसी हुई है। इस अवस्था में हमने अँगरेज़ी की और पुस्तकें देखना बन्द कर दिया है। अब सिर्फ़ गीता में अँगरेज़ी पढ़कर हम समाधान मानते हैं।

पण्डितजी देहात में देहातियों के साथ ऐसी अच्छी ग्रामीण भाषा बोलते थे कि सुनकर आश्चर्य होता था। जान पड़ता था कि वे महा अपढ़ और पूरे देहाती हैं।

हमने "तरुणोपदेश" नामक एक पुस्तक लिखी है। पुस्तक बड़ी है। उसे लिखे गये कोई १० वर्ष हुए। किसी कारण से उसे हमने प्रकाशित नहीं किया। उसे हमने पण्डित मथुरा-प्रसादजी को दिखलाया। गीता और उस पुस्तक के विषय से बहुत विरोध था। तथापि आपने उसे कृपा-पूर्वक साद्यन्त देखा, और बनारस जाकर, उसकी समालोचना हमारे पास भेजी। उसमें उर्दू और अँगरेज़ी के जो शब्द आ गये थे उनको आपने पसन्द न किया। इस सम्बन्ध में आपने हमको एक पोस्टकार्ड भेजा। उसकी नक़ल हम नीचे देते हैं—

श्रीराम:

दशाश्वमेध-घाट बनारस (जुलाई १८९५ ई०)

नमस्ते,

आपका दयापत्र और देवीस्तुतिशतक आज पाकर मैं बहुत आनन्दित हुआ। मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।

२—अपनी पुस्तक की भूमिका अर्थात् प्रस्तावना में आपने नाम नीचे लिखा है इस निमित्त बहुवचन मेरी आँखों में गड़ने लगा और जिन विदेशीय शब्दों के स्थान में भाषा के शब्द नहीं हैं उनका व्यवहार तो अवश्य ही करना पड़ता है जैसे कोत-वाल इन्सपेक्टर पुलीस रेलवे कमिश्नर मजिस्ट्रेट जज आदि परन्तु जहाँ भाषा भली भाँति काम दे सकती है तहाँ यावनी शब्दों को लाना मैं सर्वथा अनुचित समझता हूँ।

३—आपकी पुस्तक उपयोगी और मनोहर है—आपका लेख अत्युत्तम है। काशी संस्कृत का घर है परन्तु आपकी सी भाषा लिखनेवाले यहाँ कचित् निकलेंगे—पुस्तक छपनी चाहिये जिसमें लोगों का उपकार हो। व्यय का विचार कर लीजिये।

आपका शुभचिन्तक

श्रीमथुराप्रसाद मिश्र

Mathura Prasad Misra.

जान पड़ता है पण्डितजी को अपना नाम अँगरेज़ी में लिखने का बड़ा शौक़ था। क्योंकि इस पोस्टकार्ड के नीचे हिन्दी में अपना नाम एक बार लिखकर दुबारा उसे आपने अँगरेज़ी में भी लिख दिया है। आप अनावश्यक "यावनी" शब्दों के पक्षपाती न थे। पर इस पोस्टकार्ड के ऊपर हमारा पता लिखते समय गाँव दौलतपुर न लिखकर, जल्दी में आप "मौज़ा दौलतपुर" लिख गये हैं!

पण्डितजी को हमने बहुत सी चिट्ठियाँ लिखी होंगी। उनमें से कोई-कोई बहुत बड़ी और महत्त्व की थीं। परन्तु हमको उत्तर सदैव आपने पोस्टकार्ड ही पर दिया। आप कार्ड में भी पाराग्राफ़ अलग-अलग लिखते थे और सबके पहले नम्बर देते थे। नीचे आप अपना नाम हिन्दी में "श्रीमथुरा-प्रसाद मिश्र" लिखकर अँगरेज़ी में "M. P. M". या Mathura Prasad Misra लिख दिया करते थे। एक बार हमने धृष्टता से इस अनावश्यक M. P. M. के लिखे जाने का कारण पूछा।

उत्तर मिला, कि "आप हमसे हिन्दी में चिट्ठी लिखवाते हैं, तो क्या हम अपने नाम के आदि अक्षर भी अँगरेज़ी में न लिखें? हमें इनको लिखने का इतना अभ्यास है कि आपसे आप ये हमारी लेखनी से निकल जाते हैं।"

हम ऊपर लिख आये हैं कि मिश्रजी अपने वंश की निर्धन कन्याओं के विवाह के लिए धन-सम्बन्धिनी सहायता देते थे। एक बार हमने आपसे एक कन्या के विवाह के विषय में कहा। यह कन्या उनके वंश की न थी; पर कुलीनता में उससे बढ़कर थी। परन्तु आपने सहायता देने से इनकार कर दिया। आपने कहा कि हम अपने ही वंशवालों की सहायता करना अपना पहला कर्त्तव्य समझते हैं। पहले घरवालों की सहायता की जाती है। फिर बाहरवालों की। इस पर हमने उनके सिरहानेवाली गीता की पुस्तक के "पण्डिता: समदर्शिन:" वाले श्लोक का उनको स्मरण दिलाया। इस पर आप चुप हो रहे। परन्तु यह बात हम यहाँ पर स्वीकार करना चाहते हैं कि, इस विषय में, भूल हमारी ही थी, उनकी नहीं।

पण्डित मथुराप्रसादजी ने अपने विषय में, अपने ही मुँह से, जो दो-एक बातें हमसे कही हैं उनको लिखकर हम इस लेख को पूरा करना चाहते हैं।

पण्डितजी के छात्रों में अनेक ऐसे हुए जिन्होंने बहुत ऊँचे-ऊँचे पद पाये। सैयद महमूद और कुँअर भारतसिंह इत्यादि

उन्हीं के छात्रों में से हैं। जिस समय सैयद महमूद इलाहाबाद में हाईकोर्ट के जज थे उस समय पण्डितजी एक बार उनसे मिलने गये। सैयद महमूद के पिता सैयद अहमद भी वहाँ मौजूद थे। सैयद महमूद के कमरे में एक बहुमूल्य क़ालीन बिछा था। और पण्डितजी के देशी जूते धूल से लिपटे हुए थे। इससे उन्होंने जूतों को कमरे के बाहर ही उतार दिया। सैयद महमूद ने यह देखकर कुछ इशारा किया और उनके नौकर ने जूतियों को दरवाज़े के बाहर से लाकर, कमरे में क़ालीन के ऊपर, मिश्रजी के पैरों के पास, रख दिया। इस पर पण्डितजी ने क़ालीन के मैले हो जाने की बात कही। तब सैयद महमूद ने यह कहकर पण्डितजी को प्रसन्न किया कि आपके इस धूल-धूसर जूते की धूल ही के प्रसाद से यह क़ालीन मुझे मयस्सर हुआ है। सैयद साहब, पिता-पुत्र दोनों, ने मिश्रजी का इतना आदर किया जितना कोई किसी देवता का करता है। उनके सत्कार से पण्डितजी बहुत ही प्रसन्न हुए। जान पड़ता है, सैयद महमूद के इतने ऊँचे पद पाने पर मिश्रजी विशेष प्रसन्न थे। यदि ऐसा न होता तो उनके घर जाने की आप कृपा न करते।

इस प्रान्त के शिक्षा-विभाग के भूत-पूर्व प्रधान अफ़सर (डाइरेक्टर) नेस्फ़ील्ड साहब ने अँगरेज़ी में एक व्याकरण बनाया है। उसे उन्होंने पण्डित मथुराप्रसाद को दिखलाया और उनसे उसकी समालोचना चाही। पण्डितजी ने इस

व्याकरण के कुछ अंश की समालोचना की। समालोचना बहुत लम्बी हुई। उसमें उन्होंने साहब के अनेक प्रमाद सप्रमाण सिद्ध किये। इस पर दोनों में बहुत वाद-विवाद हुआ। जब नेसफ़ील्ड साहब प्रत्यक्ष मिले तब पण्डितजी ने, अनेक प्रामाणिक अँगरेज़ी ग्रन्थ उनके सामने रखकर, अपने पक्ष का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि जहाँ-जहाँ हमने भ्रम बतलाया है वहाँ-वहाँ या तो आप दोषी हैं या आपके पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकार। दोनों निर्दोष नहीं हो सकते। यह झगड़ा फ़ैसले के लिए ग्रिफ़िथ साहब के पास गया। उन्होंने पण्डितजी का पक्ष सही और नेसफ़ील्ड साहब का पक्ष ग़लत बतलाया!

एक बार पण्डितजी ने स्वयं ग्रिफ़िथ साहब के लेख में व्याकरण-सम्बन्धिनी एक शङ्का की। यह शङ्का वाल्मीकि-रामायण के अनुवाद में, एक जगह, उनको हुई थी। परन्तु इसका जो समाधान ग्रिफ़िथ साहब ने किया उससे पण्डितजी को पूरा-पूरा सन्तोष हो गया। ग्रिफ़िथ साहब पण्डितजी पर बहुत प्रसन्न थे; पण्डितजी पर उनकी पूरी कृपा थी। जिस समय नीलगिरि में ग्रिफ़िथ साहब वेदों का अँगरेज़ी अनुवाद करते थे उस समय, कभी-कभी, पत्रद्वारा, अनुवाद के विषय में वे पण्डितजी से सलाह लेते थे।

[जूलाई १९०५

५—पण्डित कुन्दनलाल

कविता भी प्रकृति-चित्रण है। वह भी एक प्रकार की चित्रविद्या है। पर कविता और चित्रकला दोनों से एक ही साथ प्रेम होना बहुधा कम देखा गया है। पण्डित कुन्दन-लाल में दोनों बातें एक ही साथ मौजूद थीं।

पण्डित कुन्दनलाल गौड़ ब्राह्मण थे। उनके पितामह का नाम गिरिधारीलाल और पिता का चतुर्भुज था। संवत् १-९१५ में उनका जन्म, मथुरा में, हुआ था। उनके बड़े भाई पण्डित श्यामलालजी जयपुर में वैद्य थे और पण्डित प्यारेलालजी सरिश्तेदार।

पण्डितजी के पूर्वज साधारण गृहस्थ थे। वे मालदार न थे। तथापि उन्होंने पण्डित कुन्दनलाल को यथाशक्ति शिक्षा देने में कोई कसर न होने दी। वे मथुरा के ज़िला-स्कूल में पढ़ने के लिए भेजे गये और कई वर्ष तक वहाँ रहे। लड़क-पन ही से उन्हें चित्र खींचने का शौक़ था। एक बार, सुनते हैं, मथुरा के तत्कालीन ज्वाइण्ट मैजिस्ट्रेट ग्राउज़ साहब स्कूल देखने गये। वहाँ कुन्दनलाल ने, ग्राउज़ साहब को देखते ही, उनका चित्र खींचा और उसी वक़्त स्कूल ही में उन्हें भेंट किया। इतनी थोड़ी उम्र में कुन्दनलाल का चित्रनैपुण्य देखकर ग्राउज़

साहब बहुत ख़ुश हुए। तभी से ये साहब के कृपापात्र हो गये और बहुत कुछ उनसे सहायता पाई।

स्कूल छोड़कर पण्डित कुन्दनलाल ने सरकारी नौकरी कर ली। जिस समय वे बुलन्दशहर में कलेक्टरी के हेडक्लार्क थे, ग्राउज़ साहब फ़तेहगढ़ की कलक्टरी पर बदल आये। वहाँ उन्होंने पण्डित कुन्दनलाल की भी बदली करा ली। तब से पण्डितजी का और साहब का, साहब के पेन्शन लेकर विलायत जाने तक, अखण्ड साथ रहा।

पण्डित कुन्दनलाल यद्यपि अँगरेज़ी के पदवीधर न थे तथापि अँगरेज़ी लिखने और बोलने में उन्हें पदवीधरों से भी अधिक अभ्यास था। उनकी अँगरेज़ी की चिट्ठियों से उनकी योग्यता का अच्छा परिचय मिलता है। उनकी कई चिट्ठियाँ हमारे पास हैं। उनमें कितनी ही बातें उन्होंने बड़े महत्त्व की लिखी हैं। हिन्दी, अँगरेज़ी के सिवा पण्डितजी उर्दू भी जानते थे। चित्रकला में तो आप बहुत ही व्युत्पन्न थे। चित्र खींचने में वे इतने चतुर थे कि आदमी को सामने बिठा-कर, बात की बात में, उसका बहुत ही अच्छा चित्र खींच देते थे। कई नुमायशों में उनके चित्रों की बड़ी तारीफ़ हुई थी और शायद उन्हें कोई पदक भी मिला था। "एक हिन्दू-विधवा" और "राजपूत-ब्राइड" (नवविवाहिता राजपूत-वधू)— उनके ये दो चित्र बहुत बढ़िया समझे गये थे। "मराठा" और "मराठिन" का भी एक जोड़ा चित्र उन्होंने अच्छा बनाया

था। सब मिलाकर कोई छः-सात चित्र उन्होंने बनाये थे; पर औरों के नाम हमें नहीं मालूम हुए। नव-विवाहिता राजपूत-वधू के साथ उसके पति का भी चित्र था। पति लड़ाई में जाने के लिए तैयार था। जाने के पहले वह अपनी नवीना वधू से मिलने आया। उसे देखकर वधू ने कहा—

रणकूँ चाल्याँ साहिबाँ काँई ढूँडत साथ।
थारे साथी तीन छे हिया, कटारी, हाथ॥

यही भाव चित्र में दिखाया गया था। चित्र के नीचे ऊपर का दोहा भी था। दोहे का अनुवाद भी अँगरेज़ी में इस प्रकार था—

Bound for fray, why halt my Lord ?
What other aid need be ?
Heart, right hand and trenchant sword
Are thy sure champions three.

यह चित्र शिमला की चित्र-प्रदर्शिनी-कमिटी को बहुत पसन्द आया था। एक अँगरेज़-चित्रकार ने इसे इतना पसन्द किया कि अपना १५०) रुपये का एक चित्र देकर इसे बदल लिया।

"हिन्दू-विधवा" का चित्र कुन्दनलाल ने १८८८ ईसवी में बनाया था। उसका एक फ़ोटो फ़तेहगढ़ से श्रीबाबू हरप्रसादजी ने हमारे पास भेजा है। यह चित्र भी प्रदर्शिनी के अधिकारियों ने बहुत पसन्द किया था। कुछ लोगों का—ख़ास करके विदेशियों का—ख़याल है कि भारतवर्ष की विधवा

स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा होती है। उन्हें और-और क्लेशों के सिवा खाने-पहनने का भी क्लेश उठाना पड़ता है। इस ख़याल को दूर करने के लिए भी पण्डितजी ने एक चित्र बनाया था। वह इन प्रान्तों की एक तरुण विधवा का चित्र था। यहाँ काँच की चूड़ियाँ, नथ, बिछुवे आदि चीज़ों और रङ्ग-बिरङ्गे कपड़ों को छोड़कर और सब चीज़ें पहनने-ओढ़ने का अधिकार विधवाओं को है। खाने-पीने में भी उन्हें कोई कष्ट नहीं दिया जाता। सिर के बाल भी नहीं मुड़ाये जाते। यही भाव इस चित्र में दिखाया गया। चित्रगत विधवा के अवयव इस बात की गवाही दे रहे हैं कि उसे खाने-पीने की कोई तकलीफ़ नहीं। प्रातःकालीन स्नान और पूजन के पश्चात् यह स्त्री परमेश्वर से नित्य यही प्रार्थना करती थी कि मरने के बाद मेरा संयोग मेरे पति से फिर हो। जिस दिन का यह चित्र है उस दिन स्नान और प्रार्थना के बाद वह अपने मकान की छत पर, दीवार से लगकर, खड़ी हो गई है और पति के सोच में ध्यानस्थ सी है।

संवत् १९४८ के आरम्भ (सन् १८९१ ईसवी) से पण्डित कुन्दनलाल ने "कवि व चित्रकार" नाम का एक त्रैमासिक पत्र, फ़तेहगढ़ से, निकाला। उसका उद्देश कविता और चित्र-विद्या की उन्नति था। चित्र भी उसमें कभी-कभी निकलते थे। उसके साथ एक बार नरगिस के स्वाभाविक पुष्प-गुच्छ का एक रङ्गीन चित्र निकला था, और एक बार सेव के पुष्प-गुच्छ

का। ये चित्र बड़े ही मनोहर थे। हमें याद पड़ता है, पण्डित कुन्दनलाल ने लिखा था कि ये गुच्छ एक हिन्दू-कुल-कामिनी के कर-कौशल के फल हैं। पण्डितजी इस पत्र में चित्रकला और फ़ोटोग्राफ़ी-विषयक अनेक उपयोगी और सहज में बोधगम्य बातें लिखा करते थे। दो-एक दफ़े आपने अच्छे-अच्छे चित्र और "डिज़ाइन" बनाकर भेजनेवालों को इनाम देने की भी घोषणा प्रकाशित की थी।

"कवि व चित्रकार" के पहले अङ्क के आरम्भ में एक संस्कृत-लावनी छपी थी। उसका शुरू इस प्रकार है—

प्रणमामि राधिकाकान्त पादयुगलन्ते
यद्विहरति रविजातीरविपुलविपिनान्ते।

इसके 'प्रणमासि' का 'प्र' बड़े आकार में, बेल-बूटों के भीतर, बनाया गया था। पर किसी-किसी रसिक कवि को वह देख ही न पड़ा। इस पर उन्होंने सम्पादक से शिकायतें कीं, जिन्हें पढ़कर पण्डित कुन्दनलाल को ललित-कलाओं की अधोगति पर बड़ा दुःख हुआ। इतना बड़ा और इतना साफ़ 'प्र' होने पर भी, सिर्फ़ बेलबूटेदार होने के कारण, लोगों की नज़र से ग़ायब हो गया!

"कवि व चित्रकार" में अच्छी-अच्छी कवितायें, कविता-विषयक प्रबन्ध, पुस्तकों की आलोचनायें और चित्रकला-विषयक लेख छपते थे। पूर्ति करने के लिए समस्यायें भी दी जाती थीं। पहली समस्या इस विषय पर दी गई थी कि

किसने और किस उद्देश से जालियों का प्रचार किया। इस पर सैकड़ों पूर्तियाँ आईं। पर वे विशेष करके शृङ्गार ही रस की थीं। कुछ तो अश्लील तक थीं। जालियों के उद्देश को भी कविजनों ने शृङ्गार ही में डुबो दिया, यह देखकर पण्डित कुन्दनलाल को अफ़सोस हुआ। पर और रसों की भी कुछ पूर्तियाँ थीं। अच्छी-अच्छी पूर्तियों को पण्डितजी ने जाल-कौमुदी नामक पुस्तक में प्रकाशित किया। इस पुस्तक में जालियों की उत्पत्ति पर पण्डितजी ने एक लेख बड़े खोज से लिखा है। और कोई पौने तीन सौ तरह की जालियों के नमूने दिये हैं। इसमें जालियाँ बनाने की रीति आदि का भी वर्णन है। जाली-विषयक पूर्तियों की जाँच के लिए एक कमिटी बनी। उसके सभापति राजा लक्ष्मणसिंहजी हुए। कमिटी ने ७ कवियों की पूर्तियों को अच्छा ठहराया। उनमें से तीन को पण्डित कुन्दनलाल ने दुशाला, घड़ी और डुपट्टा अपनी तरफ़ से पारितोषिक दिया, और शेष चार को राजा लक्ष्मणसिंह ने अपनी तरफ़ से पगड़ी। पहला पुरस्कार, अर्थात् दुशाला, पण्डित जयदेवजी (अलवर) को मिला। पण्डित नाथूराम शङ्करजी ने पगड़ी पाई। चन्द्रकला बाई (बूँदी) ने डुपट्टा।

कोई दो साल तक "कवि व चित्रकार" निकला। प्रत्येक अङ्क में एक न एक समस्यापूर्ति छपती रही। पूर्तियाँ अलग "पूर्तिपत्र" में निकलती थीं। पूर्तिपत्र "कवि व चित्रकार" के अङ्क के साथ ही बँटता था।

(१) भाल लिखी लिपि को सक टार

(२) सार यहै उपकार तजै ना

(३) उन्नति यों करिए कविता की

(४) बार करो जिन बार बराबर

(५) अब तो सबको गुरुदेव रुपैया

आदि समस्याओं पर उत्तमोत्तम पूर्तियाँ इस पत्र में प्रकाशित हुईं। कुन्दनलालजी ने अच्छी-अच्छी पूर्तियों के उपलक्ष्य में कवियों को सोने-चाँदी के पदक, घड़ियाँ, पगड़ी आदि देकर उनका उत्साह ख़ूब बढ़ाया।

कविता और चित्रकला के ऐसे प्रेमी को कुटिल काल ने बहुत दिनों तक इस लोक में न रहने दिया। पण्डित कुन्दन-लालजी पहले श्वास-रोग से दुखी रहा करते थे। पर अब वे वात-व्याधि से पीड़ित हो गये। उन पर फ़ालिज का दौरा हुआ। वे फ़तेहगढ़ से जयपुर गये। उनके कुटुम्बी वहीं थे। वहाँ चिकित्सा से पहले कुछ आराम भी हुआ। पर तीसरे दौरे में उसने पण्डितजी की जान लेकर ही कल की। संवत् १९५१ की चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को, सिर्फ़ ३६ वर्ष की उम्र में, उन्होंने शरीर छोड़ दिया। "कवि व चित्रकार" का निकलना बन्द हो गया। साथ ही कवियों को पदक और दुशाले मिलने भी बन्द हो गये। "कवि व चित्रकार" का जो अङ्क उनकी मृत्यु के बाद निकला उसमें कितने ही कवियों ने

बड़ी ही हृदय-विदारिणी कविता में पण्डितजी के असमय परलोकवास पर शोक प्रकट किया।

पण्डित कुन्दनलालजी ने, पहली स्त्री के मरने पर, दूसरा विवाह किया था। मरने के वर्ष ही डेढ़ वर्ष पहले यह विवाह हुआ था। अतएव यह और भी दुःख की बात हुई।

पण्डितजी थियासफ़िकल सोसायटी के सभासद थे और उसके तत्त्वों में अच्छी पारदर्शिता रखते थे।

ग्राउज़ साहब ने तुलसीदास की रामायण का जो अनुवाद अँगरेज़ी में किया है वह पहले ८) रुपये में आता था। इससे उन्होंने उसे, साहब की अनुमति से, ख़ुद छपाया और सर्वसाधारण के सुभीते के लिए उसकी क़ीमत घटाकर सिर्फ़ ३) रुपये कर दी।

कुन्दनलालजी ने फ़तेहगढ़ में एक सदुपकारिणी सभा भी स्थापित की थी। उसके सभापति आप ही थे। सज्जन और कुलीन स्त्री-पुरुष जो भूखे-प्यासे रहकर किसी तरह दिन काटते हैं, पर अप्रतिष्ठा के डर से किसी से कुछ माँग नहीं सकते, उन्हें इस सभा से गुप्त सहायता मिलती थी। इस सभा ने कितने ही अनाथों और दीन-दुखियों का पालन किया। यह अब तक बनी हुई है और अब तक दो-चार दीनों को अन्न-वस्त्र दे रही है।

पण्डित कुन्दनलालजी बड़े उदार, बड़े स्वदेश-भक्त और बड़े विद्या-प्रेमी थे। "कवि व चित्रकार" के निकालने में उन्होंने

बहुत रुपया खर्च किया, पर हिन्दी के प्रवीण पाठकों ने उनके पत्र की बहुत कम कद्र की। पण्डितजी एक पत्र में लिखते हैं—

My father left me no great fortune, nor my luck is over-fond of me. What little I can earn is hardly sufficient for my own family, which is by no means small. I conduct the paper at a very heavy loss (one year's loss amounting to over Rs. 800) and this is, in a sense, injustice to my family, who have stronger claims on me than the magazine. Yet I do what I can for the love of knowledge and glory of my country. I have sacrificed my health, my money, my time and, if, still the king does not like the dish, woe to the goat which has lost its life!

अर्थात्—न हमारे कोई मौरूसी जायदाद है, न हम ख़ुद ही भाग्यवान् हैं। जो कुछ थोड़ा सा हमें मिलता है हमारे ही बाल-बच्चों के लिए काफ़ी नहीं। कुटुम्ब भी हमारा छोटा नहीं। "कवि व चित्रकार" को चलाने में हमें बहुत नुक़-सान उठाना पड़ता है। गत वर्ष हम ८०० रुपये से भी अधिक के घाटे में रहे! यह हमने मानों अपने कुटुम्ब पर ज़ुलम किया—अन्याय किया। "कवि व चित्रकार" की अपेक्षा अपने कुटुम्बियों की ज़रूरतों को रफ़ा करना हमारा पहला काम है। पत्र की अपेक्षा कुटुम्ब का हक़ अधिक है। तिस पर भी

अपने देश की सुख्याति और विद्याभिरुचि की प्रेरणा से जो कुछ हमसे हो सकता है, करते हैं। हमने अपना आरोग्य नष्ट कर दिया, अपना समय नष्ट कर दिया, अपना रुपया नष्ट कर दिया; इस पर भी यदि "खाना-पसन्द" शाह को शोरबा अच्छा न लगे तो उस छाग के लिए शोक है जिसने अपनी जान खो दी !

इससे पण्डित कुन्दनलालजी के औदार्य, विद्याप्रेम और स्वदेशाभिमान का अच्छा परिचय मिलता है। इतनी हानि उठाकर और इतना आत्महितोत्सर्ग करके भी पण्डितजी हिन्दी बोलनेवालों की सहानुभूति न प्राप्त कर सके। यह हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए बहुत बड़े कलङ्क की बात है। यह चौदह-पन्द्रह वर्ष पहले की दशा का वर्णन है। पर अब तक यह दुरवस्था प्रायः पूर्ववत् बनी हुई है। अब तक हिन्दी-पत्रों, पत्रिकाओं और पुस्तकों का विशेष आदर नहीं है। अब तक हिन्दी बोलनेवाली माता के सपूत हिन्दी में ख़्वाब देखना छोड़-कर लिखना, पढ़ना पसन्द नहीं करते। देखें कब तक यह उदासीनता अटल रहती है—

"कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी"

इस लेख की बहुत कुछ सामग्री भेजने के लिए हम फ़तेहगढ़ के म्यूनीसिपल कमिश्नर, बाबू हरप्रसादजी, के बहुत कृतज्ञ हैं।

[अगस्त १९०७

६—बौद्धाचार्य शीलभद्र

एक समय था जब भारतवर्ष के बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् चीन, लङ्का और तिब्बत आदि देशों में जाकर विद्या और धर्म्म की शिक्षा देते थे। एक यह समय है कि हमीं को अन्यान्य देशों में जाकर विद्योपार्जन करना पड़ता है। पादरी साहब अब हमें यह उपदेश देने आते हैं कि तुम्हारा धर्म्म निःसार है; क्रिश्चियन होने ही से तुम्हें मुक्ति मिलेगी। ख़ैर इसका कुछ रञ्ज नहीं, क्योंकि उत्थान और पतन सबके पीछे लगा हुआ है। रञ्ज इस बात का है कि हम अपने पूर्वजों की कीर्ति को, पाण्डित्य को, पराक्रम को बिलकुल ही भूल गये हैं। उसका स्मरण तक हमें नहीं। हम यह भी नहीं जानते कि चीन जैसे सभ्य देश के पण्डित हमारे पूर्वजों के चरणों पर मस्तक रखने और उनसे विद्या-धर्म सीखने आते थे। इन बातों के जानने के कुछ तो साधन कम रह गये हैं, कुछ हम लोगों में उनके जानने की आस्था ही नहीं रही। इसी से शीलभद्र के सदृश प्रख्यात पण्डित का नाम तक लोग भूल गये थे। चीन से जो प्रवासी इस देश में आये थे उनके ग्रन्थों से इस अद्वितीय विद्वान् के विषय में बहुत सी बातें जानी गई हैं। उनके तथा दो-एक बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर, "डान" नामक अँगरेज़ी भाषा की मासिक पुस्तक में शीलभद्र पर एक लेख प्रकाशित

हुआ है। उसे पढ़ने से शीलभद्र का संक्षिप्त वृत्तान्त मालूम हो सकता है।

शीलभद्र छठी शताब्दी में विद्यमान थे। नालन्द-विश्व-विद्यालय के वे अध्यक्ष थे। भारतवर्ष भर में उस समय कोई भी शास्त्रज्ञ विद्वान् उनका समकक्ष न था। ये वही शीलभद्र हैं जिनके पैरों पर प्रसिद्ध चीनी प्रवासी ह्वेनसाँग ने अपना मस्तक रक्खा था। ये पूर्वी बङ्गाल के रहनेवाले थे। ढाका ज़िले के रामपाल गाँव में इनका जन्म हुआ था। यह गाँव उस समय समतट राज्य की राजधानी था। पालवंशी-राजाओं के पहले वहाँ ब्राह्मणवंशी राजाओं का राज्य था। शीलभद्र का जन्म राजवंश में हुआ था। यदि राज्याधिकार की इच्छा से वे अपना देश न छोड़ते तो बहुत सम्भव था कि उन्हें राजासन प्राप्त हो जाता। परन्तु राज्यप्राप्ति की अपेक्षा विद्या ही को उन्होंने श्रेष्ठ समझा। इसका फल यह हुआ कि बौद्ध-धर्म्म के विस्तृत साम्राज्य के वे सम्राट् हुए। उस समय नालन्द ही बौद्धों का सर्वश्रेष्ठ विद्यालय था। उसमें १५१० अध्यापक थे और कोई १० हज़ार विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। इन सब अध्यापकों के अध्यक्ष शीलभद्र थे।

जिस पद पर शीलभद्र अधिष्ठित थे उस पर उनके पहले कितने ही नामी-नामी पण्डित और महात्मा अधिष्ठित रह चुके थे। बौद्धों की माध्यमिक शाखा के आचार्य्य नागार्जुन इसी विश्वविद्यालय के आचार्य्य थे। यहाँ उन्होंने बौद्ध-धर्म्म के

अनुयायियों को इस नई शाखा के सिद्धान्तों का उपदेश किया था। महापण्डित नागसेन ने यहीं से अपने उपदेश के द्वारा ग्रीक-नरेश मीनेोस्ट्रेसी की शङ्काओं का समाधान करके उसके हृदयान्धकार का नाश किया था। इसी विश्व-विद्यालय के आचार्य्य-पद को सुशोभित करनेवाले गुणमति बोधिसत्व ने साङ्ख्यदर्शन का खण्डन बड़ी ही निर्दयता से करके बौद्धमत की प्रकृष्टता सिद्ध की थी। इसी विश्व-विद्यालय की बदौलत प्रभा-मित्र नामक पण्डित ने चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। इसी नालन्द-विश्वविद्यालय के जिनमित्र पण्डित को तिब्बत-नरेश ने अपने देश में बुलाकर बौद्ध-धर्म्म के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया था। चन्द्रपाल, स्थिरमति, ज्ञानचन्द्र और शीघ्रबुद्धि आदि पाण्डित्य-व्योम-मण्डल के चमकते हुए तारे यहीं उदित हुए थे।

शीलभद्र का आदि नाम दन्तदेव था। लड़कपन ही से वे विलक्षण प्रतिभाशाली और तीक्ष्णबुद्धि थे। सोलह ही वर्ष की उम्र में उन्होंने वेद, सांख्य, न्याय और वैद्यकशास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त कर ली। पर इतने ही से शीलभद्र को सन्तोष न हुआ। उनकी विद्या-परिशीलन की पिपासा न बुझी। उस समय नालन्द का विद्यालय भारतवर्ष में अपना सानी न रखता था। आप वहीं पधारे। इतनी छोटी उम्र में ढाका छोड़कर आप मगध आये। उस समय महापण्डित धर्म्मपाल नालन्द के विद्वद्रत्न थे। वही वहाँ के सर्वश्रेष्ठ आचार्य थे।

शीलभद्र के बुद्धिप्राखर्य्य ने उनको मोहित कर लिया। थोड़े ही समय में शीलभद्र ने अपने विद्यागुरु के विद्या-भाण्डार को ग्रहण करके अपने हृदय, कण्ठ और जिह्वा के अर्पण कर दिया।

इसके कुछ समय बाद दक्षिण से एक पण्डितराज मगध-नरेश की सभा में आये। उन्होंने आचार्य्य धर्म्मपाल को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। धर्म्मपाल सभा में बुलाये गये। पर दन्तदेव ने गुरु को शास्त्रार्थ करने के लिए जाने से रोका। मेरे रहते मेरे गुरु से शास्त्रार्थ! पहले वह पण्डित मुझे परास्त कर ले, तब मेरे गुरुदेव का मुकाबला करे। अन्यथा यह नहीं हो सकता। धर्म्मपाल अपने सच्छिष्य की योग्यता से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने कहा "सिद्धिरस्तु," "गम्यतां वत्स"।

इस आदेश से और अध्यापक डरे। भला यह कल का अल्पवयस्क दन्तदेव विजयी दाक्षिणात्य पण्डित का मुकाबला कैसे कर सकेगा? कहीं यह नालन्द का नाम न धरावे। इस तरह की शङ्काओं का उत्थान करके उन्होंने आचार्य की आज्ञा का प्रतिवाद किया। पर आचार्य धर्म्मपाल ने सबका समाधान कर दिया। दन्तदेव मगधराज के दरबार में अपना पाण्डित्य दिखाने के लिए रवाना हुए। साथ में सैकड़ों अध्यापक और विद्यार्थी भी गये। दूर-दूर से लोग यह अद्भुत शास्त्रार्थ सुनने के लिए आये। शास्त्रार्थ का दिन नियत हुआ। सभा-स्थान

दर्शकों से भर गया। कहीं तिल रखने को जगह न रही। दाक्षिणात्य पण्डित ने खड़े होकर पूर्व-पक्ष का उत्थान किया। घण्टों उसने अपने पक्ष का समर्थन करके वैदिक धर्म्म का श्रेष्ठत्व और बौद्धधर्म्म का हीनत्व प्रतिपादन किया। उसके बैठते ही दन्तदेव उठे। प्रतिपक्षी की दलीलों का खण्डन आरम्भ हुआ। उसकी एक-एक दलील दन्तदेव की अकाट्य और अखण्डनीय युक्तियों के चक्र से कट-कटकर गिरने लगी। दन्तदेव के उत्तर और प्रभाव-भरे वक्तृत्व ने उस दाक्षिणात्य पण्डित का दिल दहला दिया; वह काँपने लगा। सारी सभा में आतङ्क छा गया। अन्त को दन्तदेव ने जब "अहिंसा परमोधर्म्मः" की श्रेष्ठता प्रतिपादन की तब श्रोताओं पर विलक्षण प्रभाव पड़ा। विपक्षी दाक्षिणात्य पण्डित के मुँह से एक शब्द भी, उत्तर में, न निकला। उसने पराजय स्वीकार किया और सभा-स्थल छोड़कर चल दिया। यह घटना ५५४ ईसवी में हुई। बौद्धों की इस जीत का संवाद सारे भारत ही में नहीं, चीन और तिब्बत तक में फैल गया। मगध-नरेश दन्तदेव पर बहुत ही प्रसन्न हुए। गया के पास उन्हें कुछ जायदाद देने की उन्होंने इच्छा प्रकट की। पर दन्तदेव ने कहा मुझ "भिक्षु" को धन-सम्पत्ति से क्या सरोकार? तथापि जब राजा ने न माना तब उन्होंने गया के पास एक विहार बनवा देने की प्रार्थना की। राजा ने यह प्रार्थना ख़ुशी से क़बूल की और एक बहुत अच्छा विहार बनवाकर बुद्ध के पवित्र नाम पर अर्पण कर दिया।

तब से दन्तदेव का नाम हुआ शीलभद्र। स्वार्थ-त्याग के कारण, चीन के प्रवासियों और ग्रन्थकारों ने दन्तदेव का उल्लेख इसी नाम से किया है।

यथासमय धर्म्मपाल ने निर्वाण पाया। उनकी जगह शीलभद्र को मिली। शीलभद्र १५१० उपाध्यायों और अध्यापकों के निरीक्षक नियत हुए। नालन्द-विश्व-विद्यालय के वे सर्वश्रेष्ठ अधिकारी हुए। शीलभद्र के अधीन अध्यापकों के तीन दरजे थे। पहले में १० अध्यापक थे जो भिन्न-भिन्न ५० प्रकार के "सूत्रों" और "शास्त्रों" में पारङ्गत थे। दूसरे दरजे में ५०० अध्यापक थे। वे ३० प्रकार के शास्त्रों में निष्णात थे। तीसरे दरजे में १००० थे जो २० प्रकार के "सूत्रों" और "शास्त्रों" में कुशल थे। इन सबके ऊपर शीलभद्र थे। शीलभद्र वैदिक और बौद्ध दोनों धर्म्मों के सिद्धान्तों के पारगामी विद्वान् थे। विद्वत्ता में वे अपने समय में एक ही थे।

शीलभद्र को, कोई ८३ वर्ष की उम्र में, एक बार अवलोकितेश्वर बोधिसत्व, मैत्रेयी बोधिसत्व और मञ्जुश्री बोधिसत्व के दर्शन हुए। उस समय शीलभद्र एक दुःखद रोग से पीड़ित थे। बोधिसत्त्वों ने उन्हें बौद्धधर्म का प्रचार करने और उस धर्म्म में दृढ़ विश्वास रखने का उपदेश दिया। इसके बाद वे अदृश्य हो गये। शीलभद्र का रोग भी जाता रहा। बोधिसत्वों ने चीन से आनेवाले प्रवासी ह्वेनसाँग को बौद्धधर्म्म का मर्म सिखलाने की भी आज्ञा दी।

इसके तीन वर्ष बाद ह्वेनसाँग वज्रासन तीर्थ (बुद्ध गया) में पहुँचा। यह ख़बर सुनते ही शीलभद्र ने ४ "श्रमण" उसे लाने के लिए भेजे। ह्वेनसाँग ने इस आमन्त्रण को बड़े भक्तिभाव से स्वीकार किया। तीर्थाटन करते हुए वह नालन्द पहुँचा। २०० श्रमणों ने नालन्द के विश्व-विद्यालय के फाटक पर आकर उसकी अगवानी की। एक सहस्र बौद्धों ने स्तुति-पाठ किया। बड़े समारोह से ह्वेनसाँग विश्वविद्यालय में लाया गया। जब वह सभा-मण्डप में पहुँचा तब उसे एक श्रेष्ठ आसन दिया गया। वहाँ के प्रधान भिक्षु ने आज्ञा दी कि जब तक ह्वेनसाँग वहाँ रहे उसका वही आदर किया जाय जो एक भिक्षु या उपाध्याय का करना चाहिए। कुछ देर विश्राम करने के बाद २० अध्यापकों ने ह्वेनसाँग को शीलभद्र के सम्मुख उपस्थित किया। उस समय शीलभद्र की उम्र १०६ वर्ष की थी; उनके सिर में एक भी बाल न रह गया था। वे बिलकुल खल्वाट हो गये थे। ह्वेनसाँग ने दण्डप्रणाम किया और शीलभद्र के पैरों को बड़ी भक्ति से चूमा। शीलभद्र ने ह्वेनसाँग को अपने कर-कमलों से उठाया और आशीर्वाद दिया। ह्वेनसाँग उसी दिन से नालन्द-विश्व-विद्यालय का विद्यार्थी हुआ और कई वर्षों तक वहाँ रहकर बौद्ध आगमों का उसने अध्ययन किया।

[अप्रेल १९०८

७—ख़ानबहादुर, शम्सुल्-उल्मा, मौलाना मुहम्मद ज़काउल्लाह

हाल में हमारे एक मित्र ने एक किताब लिखी है। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है कि अब हिन्दी के बड़े-बड़े लेखक पैदा हो गये हैं। इसका क्या मतलब है, मालूम नहीं। हमारी राय में तो हिन्दी में अभी कुछ भी नहीं है। टूटे-फूटे शब्दों में हम जैसे दो-चार आदमी जो हिन्दी लिखते हैं उनसे काम ही कितना हो सकता है। दस-पाँच बूँद डाल देने से एक छोटा सा घड़ा भी नहीं भर सकता, समुद्र भरने का तो ज़िक्र ही नहीं। हिन्दी में अभी है ही क्या? उसका मैदान बिलकुल ही ख़ाली पड़ा है। जिस भाषा को हम लोग देश-व्यापक भाषा बनाना चाहते हैं उसकी इतनी दरिद्रता देखकर दुःख होता है। जब हम हिन्दी के साहित्य का मुक़ाबला उर्दू से करते हैं तब यह दुःख दूना-चौगुना हो जाता है। इसका दोष किसके सिर है? हमारे ही न! यदि हम चाहें तो बहुत जल्द इसका इलाज हो सकता है। पर हम चाहते ही नहीं। अकेले इस सूबे में हज़ारों आदमी ऐसे हैं जो अच्छी तरह हिन्दी लिख-पढ़ सकते हैं, अथवा बहुत थोड़े प्रयत्न से वे अच्छे लेखक बन सकते हैं। पर नहीं बनना

चाहते। उनकी शिकायत है कि उन्हें समय नहीं—अवकाश नहीं। जो लोग सरकारी मुलाज़िम हैं उनकी समय-सम्बन्धी शिकायत की तो कुछ पूछिए ही नहीं। औरों की हम नहीं कह सकते, पर जो लोग शिक्षा-विभाग में कर्मचारी हैं क्या उनको भी समय नहीं मिलता? जी हाँ, उन्हें भी समय नहीं मिलता। वे भी सरकारी काम की चक्की में पीसे जाते हैं। कहते तो वे यही हैं। आर० सी० दत्त को कलेक्टरी और कमिश्नरी का काम करके किताबें लिखने के लिए समय मिल जाता था। बङ्किम बाबू को डिपुटी मैजिस्ट्रेटी करके भी साहित्य-सेवा के लिए समय मिलता था। विन्सेंट स्मिथ, ग्रियर्सन, ड्यूहर्स्ट आदि बड़े-बड़े अँगरेज़-कर्म्मचारियों को भी समयाभाव की शिकायत नहीं करनी पड़ी। उनके अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ इसका साक्ष्य दे रहे हैं। परन्तु हमारे स्कूलों और कालेजों के अध्यापकों और शिक्षाविभाग के अन्यान्य कर्म्मचारियों को एक मिनट की भी फ़ुरसत नहीं। अपने मद्दाह मुदर्रिसों और मातहतों से घिरे आप घण्टों बैठे फ़िज़ूल बातें किया करेंगे, पर हिन्दी लिखने के लिए आपको कभी समय नहीं मिलता। कालेजों के संस्कृत-प्रोफ़ेसरों को बहुत ही कम काम पड़ता है, परन्तु बेचारी हिन्दी पर उन्हें भी दया नहीं आती। उनमें से कुछ महाशय यह उज़्र पेश करते हैं कि हिन्दी हमारी मातृभाषा नहीं। अच्छा तो आप अपनी मातृभाषा ही में कुछ लिख डालने की कृपा करते। सो भी तो आपने नहीं

किया। जिस भाषा को आपने अपनी माँ का स्तन्य-पान करते समय सीखा और जिसमें आप सदा अपने माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-कलत्र से बातें करते हैं वह भाषा आपको नहीं आती! कभी अगर कोई भाषा लिखना आपको आ जाता है, तो वह छः हज़ार मील दूर के एक टापू की भाषा है। बरसों सिरखपी करके और N-o No, S-o So, रटकर जिसका आपने अभ्यास किया उसमें आप कभी-कभी कुछ लिख देते हैं तो लिख देते हैं। परन्तु उसमें भी आप ऐसी बातें लिखते हैं जिन्हें केवल आप ही के जैसे दो-चार आचार्य्य और उपाध्याय समझ सकते हैं, सभी अँगरेज़ी जाननेवाले नहीं। इस दशा में हिन्दी की उन्नति क्या ख़ाक हो सकती है। समयाभाव की शिकायत बिलकुल ही निर्मूल है। इच्छा होने पर बहुत समय मिल सकता है। दस मिनट रोज़ निकालने से महीने में पाँच घण्टे होते हैं। इतने समय में एक छोटा ही सा लेख सही। पर आप कुछ न करेंगे। जब आपको अपने बने-बिगड़े की परवा ही नहीं तब आपको क्यों कभी समय मिलेगा और आप जिस हिन्दी को पैशाची भाषा से भी अधिक क्लिष्ट समझ रहे हैं उसमें लिखना सीखने की चेष्टा भी आप क्यों करेंगे। ख़ैर! आज आप एक ऐसे लेखक की दो-चार बातें सुन लीजिए जो म्यूर-सेन्ट्रल कालेज में बहुत बरसों तक अरबी-फ़ारसी के प्रोफ़ेसर रहे। तिस पर भी उन्हें अपनी मातृभाषा में किताबें और लेख लिखने के लिए

समय मिल गया। उन्होंने कभी इस बात की लज्जाजनक शिकायत नहीं की कि मुझे अपनी माँ की बोली बोलना या लिखना नहीं आता। उनका नाम है—ज़काउल्लाह। उनका शरीरपात हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ।

मौलवी ज़काउल्लाह की जन्मभूमि देहली है। वहीं के कालेज में उन्होंने शिक्षा पाई थी। शिक्षाप्राप्ति के बाद आप उसी कालेज में गणित के अध्यापक हो गये। वहाँ से आपकी बदली आगरा-कालेज को हुई। वहाँ आप अरबी-फ़ारसी पढ़ाते रहे। सात वर्षों तक यह काम आपने किया। तदनन्तर आप स्कूलों के डिपुटी इन्सपेक्टर हुए। इस ओहदे पर आप ग्यारह वर्षों तक रहे। १८६९ में आप देहली के नार्मल स्कूल के हेडमास्टर हुए। तीन वर्ष बाद आपको इलाहाबाद के म्यूर-कालेज में जगह मिली। वहाँ आप पन्द्रह वर्षों तक अरबी और फ़ारसी पढ़ाते रहे। इसके बाद आपने पेन्शन ले ली। उसका उपभोग आपने कोई चौबीस वर्षों तक किया।

ज़काउल्लाह साहब ने उर्दू के साहित्य को अपनी बनाई हुई सैकड़ों किताबों से भर दिया। बहुत थोड़ी उम्र ही से आपको लिखने का शौक़ हुआ था। आपने सरकारी काम करके अवशिष्ट अवकाश को कभी व्यर्थ नहीं जाने दिया। पेन्शन लेने के बाद तो आप इस तरह साहित्य के काम में जुट गये कि कितने ही बड़े-बड़े और अनमोल ग्रन्थ आपने लिख डाले। इतिहास और गणित से आपको बड़ा प्रेम था।

परन्तु इन्हीं दो विषयों पर नहीं, और भी कितने ही विषयों पर आपने पुस्तक-रचना की। सम्पत्तिशास्त्र एक बहुत ही गहन और रूखा विषय है। पर उस पर भी आपने किताबें लिखीं और ऐसे समय में लिखीं जब इस विषय की प्रायः बिलकुल ही चर्चा इन प्रान्तों में न थी। यदि यह कहा जाय कि आप उर्दू के सबसे बड़े लेखक थे तो कोई अत्युक्ति न होगी। आपकी विद्वत्ता को देखकर गवर्नमेंट ने आपको शम्सुल्-उल्मा की पदवी दी। गणितशास्त्र पर आपने जो किताबें लिखी हैं उनके उपलक्ष में गवर्नमेंट ने डेढ़ हज़ार रुपया इनाम भी आपको दिया। ख़ाँ बहादुर का ख़िताब भी आपको मिला। आप इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के फ़ेलो भी थे।

मौलवी ज़काउल्लाह ने छत्तीस वर्षों तक तो सरकारी नौकरी की और चौबीस वर्षों तक पेन्शन लेकर घर बैठे। आपने सब मिलाकर कोई डेढ़ सौ किताबें लिखीं। अकेले गणित-विषय पर आपने ८७ किताबें लिख डालीं। भूगोल और इतिहास पर आपने १७ किताबें लिखीं। शेष किताबें और-और विषयों पर आपने लिखीं। दस-पाँच किताबों को छोड़कर आपकी और सब किताबें प्रकाशित हो गई हैं। किसी-किसी की तो अनेक आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। जो कुछ आपने लिखा प्रायः उर्दू ही में लिखा। आप चतुरस्र विद्वान् थे। कोई विषय ऐसा न था जिसमें आपकी गति न हो।

आपका सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्त्व का ग्रन्थ

भारतवर्ष का इतिहास (तारीख़े हिन्दोस्तान) है। इसकी तेरह जिल्दें हैं। बड़ी खोज से यह लिखा गया है। हिन्दी के पक्षपाती हम हिन्दुओं को यह सुनकर, यदि और कुछ न बन पड़े तो, क्षण भर के लिए अपना सिर ही नीचा कर लेना चाहिए। ब्रिटिश गवर्नमेंट का इतिहास भी इन्होंने तीन जिल्दों में लिखा है। महारानी विक्टोरिया का जीवनचरित जो इन्होंने लिखा है वह भी बड़े विस्तार से लिखा गया है और बहुत अच्छा समझा जाता है। मरने के पहले आप एक और बहुत बड़े काम में लगे थे। आप मुसल्मानों का एक इतिहास लिख रहे थे। पर वह पूरा न हो पाया।

मौलवी साहब की बनाई हुई हिसाब की किताबें बहुत बरसों तक इन प्रान्तों और पञ्जाब के सरकारी स्कूलों में जारी रह चुकी हैं। इनकी उर्दू रीडरें भी बहुत समय तक "कोर्स" में थीं।

इतनी किताबें लिखकर भी मौलवी ज़काउल्लाह साहब को उर्दू के अख़बारों और मासिक पुस्तकों में लेख लिखने के लिए भी समय मिल जाता था। इनके लिखे हुए दस-पाँच नहीं, हज़ारों लेख निकले होंगे।

पाठक, आइए, हम और आप दोनों मिलकर परमेश्वर से प्रार्थना करें कि वह एक-आध हिन्दी लिखनेवाला भी ऐसा ही प्रोफ़ेसर पैदा करके हिन्दी पर दया दिखावे। अथवा वर्तमान प्रोफ़ेसरों और अध्यापकों की रुचि ही को हिन्दी की तरफ़ झुका दे।

[अप्रेल १९११

८—रावबहादुर गणेश वेङ्कटेश जोशी, बी० ए०

पूने के प्रसिद्ध विद्वान्, बम्बई के गवर्नर की कौंसिल के मेम्बर, रावबहादुर गणेश वेङ्कटेश जोशी का शरीरान्त गत २० मई को हो गया। ये अच्छे पण्डित थे। राजकीय विषयों में इनकी अच्छी गति थी। अर्थशास्त्र के ये उत्कृष्ट ज्ञाता थे। राजनीति, व्यापार और उद्योग-धन्धे आदि के सम्बन्ध में इनका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

कोल्हापुर के पास एक क़सबा मीरज है। १८५१ ईसवी के जून महीने में वहीं जोशीजी का जन्म हुआ। पहले मीरज में, फिर कोल्हापुर में, इन्होंने शिक्षा पाई। स्कूल की शिक्षा समाप्त होने पर ये बम्बई के एल्फ़िन्स्टन-कालेज में भर्ती हुए। वहीं से इन्होंने बी० ए० की पदवी प्राप्त की। कालेज छोड़ने पर इन्होंने शिक्षा-विभाग में नौकरी कर ली। धीरे-धीरे इनकी उन्नति होती गई। पूना, सतारा, रत्नागिरी, नासिक और शोलापुर आदि कई बड़े-बड़े शहरों के सरकारी स्कूलों में इन्होंने अध्यापन का काम किया। १९०५ में पेन्शन लेकर ये पूने में रहने लगे।

जोशीजी बड़े निःस्पृह और विद्याव्यसनी थे। सादगी के ये मूर्तिमान् अवतार और अर्थशास्त्रीय ज्ञान के अक्षय्य भाण्डार थे। अध्यापन-कला में इन्होंने इतनी प्रवीणता प्राप्त

की थी कि भूगोल-सदृश महानीरस विषय को भी ये सरस बना देते थे। जिस विषय को ये पढ़ाते थे उसमें ये मनोरञ्जकता भी उत्पन्न कर देते थे। इनके विद्या-शिष्य इनके मुख से निकले हुए ज्ञानामृत का पान बड़े ही चाव से करते थे। उनके हृदयों में कभी विरक्ति न उत्पन्न होती थी। इस समय इनके शिष्यों में हज़ारों ऐसे हैं जो बड़े-बड़े उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हैं। वे सब जोशीजी के अप्रतिम शिक्षण-कौशल की हृदय से प्रशंसा करते हैं।

जब से ये सार्वजनिक विषयों की चर्चा में संलग्न हुए और भारतवर्ष की आर्थिक तथा औद्योगिक अवस्था पर इनके महत्त्व-पूर्ण लेख निकलने लगे तबसे इनकी योग्यता का विशेष परिचय सर्व-साधारण को हुआ। इस कारण प्रजा ने इनको गवर्नर की कौंसिल में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा।

हम लोग दस-पाँच अङ्कों को देखकर घबरा जाते हैं। दो-चार बड़ी-बड़ी संख्याओं को पास पास देखकर तो उन्हें दुबारा देखने को जी ही नहीं चाहता। हिसाब से यों भी लोगों को बहुत कम प्रेम होता है। फिर कहीं यदि करोड़ों तक की सैकड़ों संख्याओं को जोड़ने, अथवा उनसे कोई निष्कर्ष निकालने की ज़रूरत आ पड़े, तो यही जान पड़ता है कि सिर पर कोई बहुत बड़ी आफ़त आ गई। परन्तु जोशीजी की चित्त-वृत्ति की विचित्रता को देखिए। इनको ऐसी ही बातों से प्रेम था। और, प्रेम भी ऐसा-वैसा नहीं—उत्कट प्रेम था।

भारत के व्यापार-वाणिज्य, आर्थिक अवस्था और उद्योग-धन्धे आदि से सम्बन्ध रखनेवाली कितनी ही बड़ी-बड़ी रिपोर्टें गवर्नमेंट की आज्ञा से हर साल प्रकाशित होती हैं। उनमें अङ्कों ही की भरमार रहती है। पढ़ने योग्य मज़मून बहुत नहीं होता। ऐसी रिपोर्टें जोशीजी को प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं। संख्यातीत बातें—संख्यातीत हिसाब—अङ्कों के रूप में उनके दिमाग़ में भरी रहती थीं। उनके पुस्तक-संग्रह में ऐसी ही पुस्तकों की अधिकता थी। उन्हीं के बीच में बैठकर जोशीजी उनके अङ्कसागर में डुबकियाँ लगाया करते थे। उनसे यदि कोई यह पूछता कि इस साल भारत से अमेरिका को कितना चमड़ा गया, अथवा विलायत से कितने टन लोहा भारत में आया, अथवा कितने की शकर मिर्च के टापू से बम्बई या कराची में उतरी तो उसके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर जोशीजी तत्काल ही, अङ्कों के रूप में, दे देते। इस विषय में जोशीजी का सानी नहीं देख पड़ता।

माननीय महादेव गोविन्द रानडे से जोशीजी की बड़ी घनिष्ठता थी। रानडे के लेखों और वक्तृताओं में भारत की आर्थिक और व्यापार-विषयक अवस्था के द्योतक जो अङ्क पाये जाते हैं, सुनते हैं, वे सब जोशीजी ही के दिमाग़ की बदौलत रानडे महाशय को प्राप्त हुए थे।

जब तक जोशीजी अध्यापन-कार्य करते रहे तब तक उन्हें राजकीय विषयों पर लेख लिखने, अथवा उनकी और तरह

चर्चा करने, का मौक़ा नहीं मिला। उस कार्य्य से विरत होते ही उन्होंने अपने ज्ञान-भाण्डार से नये-नये रत्न निकालने आरम्भ किये। उनके लेख विद्वान् और उच्च शिक्षा पाये हुए जन, टाइम्स आव् इंडिया आदि पत्रों में, बड़ी उत्कण्ठा से पढ़ने लगे। जोशीजी ने गवर्नमेंट की भूमिकर-सम्बन्धिनी नीति का बहुत ही अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण था जो इस विषय में लिखे गये उनके लेख बड़े ही गम्भीर, प्रमाणपूर्ण और अखण्डनीय होते थे। अकाल के सम्बन्ध में उन्होंने जो लेख लिखे थे उनका फल भी बहुत अच्छा हुआ। तत्सम्बन्ध में गवर्नमेंट ने जाँच की और जोशीजी की शिकायतों को अनेकांश में दूर कर दिया। विलायत के नेविन्सन साहब ने—"न्यू स्पिरिट इन इंडिया" नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने लिखा है कि जोशीजी के मुँह से अङ्कों की लम्बी-लम्बी लड़ियाँ इस तरह निकलती हैं जिस तरह कि फ़व्वारे से पानी की सैकड़ों पतली-पतली धारायें निकलती हैं।

मिस्टर डिग्बी और मिस्टर आर० सी० दत्त ने भारत की आर्थिक और औद्योगिक अवस्थिति के विषय में जो बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी हैं उनके सङ्कलन में उन्हें भी जोशीजी से बहुत सहायता मिली थी।

कौंसिल में गवर्नमेंट भी जोशीजी के काम को बड़े महत्त्व का समझती थी। जो कुछ वहाँ इन्होंने कहा या लिखा

उसमें सचाई और न्यायशीलता को कभी हाथ से नहीं जाने दिया। इनकी न्यायनिष्ठा बड़ी ही प्रबल थी। कौंसिल में इनके कार्य-कलाप से प्रसन्न होकर ही गवर्नमेंट ने इन्हें राव-बहादुर बनाया था। धन्य है वह पुरुष जो राजा और प्रजा दोनों का कृपापात्र और विश्वास-भाजन हो।

जोशीजी के मरने पर माननीय मिस्टर गोखले आदि, पूने के प्रतिष्ठित जनों, ने सभा करके शोक-प्रदर्शन किया। अब जोशीजी की स्मृति-रक्षा का प्रबन्ध हो रहा है।

[सितम्बर १९११

६—इच्छाराम सूर्यराम देसाई

शोक की बात है कि बम्बई के सुप्रसिद्ध समाचारपत्र 'गुजराती' के स्वामी और सम्पादक श्रीयुक्त इच्छाराम सूर्यराम देसाई का देहान्त, गत दिसम्बर मास की ५ तारीख़ को, हृद्रोग से हो गया। देसाई महाशय भारत के उन थोड़े से सपूतों में से थे जिन्होंने अपने कर्तव्यों के पालन में निन्दा-स्तुति या हानि-लाभ की कभी परवा नहीं की और देश-सेवा तथा साहित्य-सेवा को अपना धर्म समझकर सदैव ही उसमें रत रहे।

इच्छारामजी का जन्म २३ अगस्त, सन् १८५७ ईसवी, को हुआ था। मृत्यु के समय आपकी उम्र केवल ५५ वर्ष की थी। इच्छाराम के पिता का नाम सूर्यराम था और देसाई उनकी उपाधि थी। यह उपाधि उनके पूर्वजों ने मुग़ल-बादशाह अकबर से, अपनी बहुमूल्य राजसेवाओं के उपलक्ष्य में, प्राप्त की थी। सूर्यरामजी अँगरेज़ी गवर्नमेंट के सेना-विभाग में नौकर थे। कहते हैं कि वे बड़े वीर सैनिक थे। अँगरेज़ों और अफ़ग़ानों में जब पहला युद्ध हुआ था तब अँगरेज़ी फ़ौज के साथ-साथ वे भी अफ़ग़ानों से लड़े थे। उस समय उन्होंने अच्छी बहादुरी दिखाई थी। गोलियों के कई घाव उनकी देह पर थे। इस कारण उन्हें बहुत जल्द पेंशन लेनी पड़ी।

बहुत समय तक पेंशन का उपभोग करने के बाद जब सूर्यराम का शरीरपात हुआ तब इच्छाराम की उम्र कुछ अधिक

न थी। उस समय वे विद्यालय में शिक्षा पा रहे थे। पिता का आश्रय उठ जाने से वे अपनी पढ़ाई अधिक दिनों तक जारी न रख सके। उच्च शिक्षा प्राप्त किये बिना ही उन्होंने विद्यालय छोड़ दिया और क़ानून सीखने लगे। परन्तु कई कारणों से वे वकालत की परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके।

तब उन्होंने अपना ध्यान पत्रसम्पादन-कार्य तथा साहित्य-सेवा की ओर लगाया। १८७६ ईसवी में, जिस समय उनकी उम्र केवल १९ वर्ष की थी, वे बम्बई से निकलनेवाले "आर्यमित्र" नामक गुजराती-समाचार-पत्र के सम्पादक नियुक्त किये गये। इस पत्र का सम्पादन उन्होंने केवल चार महीने तक किया। इसके बाद विख्यात अँगरेज़ी दैनिक पत्र 'टाइम्स आव् इंडिया' (Times of India) के दफ़्तर में उन्होंने नौकरी कर ली। उसे छोड़कर देसाई महाशय ने, कुछ दिनों तक, एक अँगरेज़ी कोठी में काम किया। परन्तु वह काम भी उनको पसन्द न आया। दूसरे ही वर्ष उन्होंने "बम्बई समाचारपत्र" का सम्पादन-भार अपने ऊपर लिया। परन्तु ग्यारह महीने के बाद उसे भी उन्हें छोड़ना पड़ा। बात यह थी कि इच्छाराम स्वतन्त्र स्वभाव के आदमी थे। स्पष्टवादिता तथा निर्भीकता उनकी नस-नस में भरी हुई थी। इसी लिए उनसे हर एक से बनती न थी। यही कारण था जिसने उन्हें दो वर्ष के अन्दर चार जगह काम करने और छोड़ने के लिए बाध्य किया। अतएव रोज़-रोज़ की हाय-हाय मिटाने के लिए

उन्होंने अपना एक स्वतन्त्र पत्र निकालने का सङ्कल्प किया। यह सङ्कल्प उन्होंने बहुत जल्द कार्य में परिणत कर दिखाया।

सन् १८७८ ईसवी के फ़रवरी महीने से इच्छारामजी 'स्वतन्त्रता' नाम की मासिक पत्रिका निकालने लगे। यह पत्रिका बम्बई से नहीं, सूरत से, निकली। इसमें कभी-कभी बड़े कड़े लेख प्रकाशित होते थे। इसके दूसरे ही अङ्क में लार्ड लिटन की गवर्नमेंट द्वारा लगाये हुए 'लाइसेन्स टैक्स' नामक कर के विषय में एक बड़ा ही तीव्र-समालोचनात्मक लेख छपा। दुर्भाग्य से उसी समय सूरत में बलवा हो गया। अधिकारियों ने समझा कि इस लेख ही के कारण यह बलवा हुआ है। अतएव बेचारे इच्छाराम, अपने सात साथियों समेत, राज-विद्रोह के अपराध में गिरफ्तार किये गये। सौभाग्य से बलवेवाले दिन वे बम्बई में थे। इसलिए पकड़े जाने के बाद ही वे तुरन्त ज़मानत पर छोड़ दिये गये। परन्तु एक को छोड़कर उनके अन्य साथी न छोड़े गये। अतएव इच्छा-राम उनकी पैरवी करने लगे। इस पर सरकारी आज्ञा से वे दुबारा गिरफ़्तार किये गये। उनका मुक़दमा कोई छः महीने तक चलता रहा। उन्होंने बम्बई के विख्यात बारिस्टर सर फ़ीरोज़शाह मेहता को अपना वकील बनाया। कहते हैं कि मेहता महाशय ने इस मुक़दमे की पैरवी ख़ूब जी-जान लड़ाकर की। इससे उनकी क़ानूनी योग्यता की धाक बैठ गई और केवल बम्बई प्रान्त ही में नहीं, किन्तु सारे भारत में उनका

नाम हो गया। अस्तु। अन्त में सत्य की जीत हुई। अपने साथियों सहित इच्छाराम, निर्दोषी प्रमाणित होकर, छूट गये। परन्तु इस मुक़दमे में ख़र्च बहुत अधिक पड़ा। इच्छाराम तथा अन्य अभियुक्तों के सब मिलाकर कोई पचासी हज़ार रुपये ख़र्च हो गये। कुछ भी हो, इस घटना से सर्व-साधारण को यह निश्चय हो गया कि देसाई महाशय कितने दृढ़-प्रतिज्ञ तथा धुन के कितने पक्के हैं और उनमें साहस तथा निर्भीकता कहाँ तक भरी हुई है।

मुक़दमे से छुट्टी पाते ही इच्छाराम ने 'गुजरात-मित्र' तथा 'देशी मित्र' नामक पत्रों का सम्पादन स्वीकार किया। यह काम वे कोई छः महीने तक करते रहे। इसके बाद, सन् १८८० ईसवी में, उन्होंने बम्बई के विख्यात करोड़-पति, सर मङ्गलदास नाथूभाई, की सहायता से 'गुजराती' नामक समाचारपत्र निकाला। इस पत्र ने थोड़े ही दिनों में अच्छी उन्नति की। इसकी ग्राहक-संख्या भी ख़ूब बढ़ी। गुजराती भाषा के बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवि और लेखक इसमें लिखने लगे। सन् १८८९ ईसवी में इस पत्र में कुछ पृष्ठ और बढ़ाये गये और उनमें अँगरेज़ी भाषा के लेख रहने लगे। तब से लेकर आज तक यह उसी एङ्गलो-गुजराती रूप में बराबर निकल रहा है। गत सन् १९०४ ईसवी में इस पत्र को रजत-जयन्ती, बड़ी धूमधाम से, मनाई गई थी। 'गुजराती' अपनी भाषा के प्रतिष्ठित तथा उच्च श्रेणी के पत्रों में समझा जाता है और

सर्व-साधारण जन उसे बहुत पसन्द करते हैं। उसके लेख भी बड़े मार्के के होते हैं। उसके द्वारा बड़ी निर्भीकता से सत्य तथा न्याय का पक्ष-समर्थन किया जाता है। इस पत्र की सारी उन्नति और सर्वप्रियता के एकमात्र कारण श्रीयुक्त इच्छाराम सूर्यराम देसाई थे। क्योंकि वही उसके सर्वस्व थे।

इससे यह न समझना चाहिए कि देसाई महाशय जन्म भर केवल पत्र-सम्पादन ही करते रहे; उन्होंने और कुछ किया ही नहीं। वे गुजराती भाषा के आचार्य और बड़े भारी लेखक तथा कवि थे। गुजराती-साहित्य-संसार के वे एक स्तम्भ माने जाते थे। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं और अनेकों का अनुवाद भी किया। अपने गुजराती प्रिंटिंग प्रेस के द्वारा उन्होंने अपनी तथा औरों की कितनी ही नवीन और प्राचीन पुस्तकें प्रकाशित कीं।

इच्छारामजी ने पहले पहल सत्यनारायण की प्रसिद्ध कथा का अनुवाद, गुजराती में, किया। उसके बाद उन्होंने महाकवि होमर के 'इलियड' नामक काव्य का पद्यात्मक अनुवाद अपनी मातृ-भाषा में किया। परन्तु वह उनको पसन्द न आया। इसलिए उन्होंने उसे जला डाला। फिर उस पुस्तक की बारी आई जो अपने नाम में धर्मात्मा गुजरातियों के लिए जादू का असर रखती है। उसका नाम है—'चन्द्रकान्त'। यह एक धार्मिक ग्रन्थ है। देसाईजी ने पहले सैकड़ों धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन तथा मनन किया। फिर कितने ही सच्चे

साधु-महात्माओं के साथ ज्ञानालोचना की। इसके बाद उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। गुजराती-साहित्य में इस पुस्तक का दरजा बहुत ऊँचा है। अब तक इसकी हज़ारों प्रतियाँ बिक चुकी हैं। 'काव्यदोहन' भी देसाईजी की बहुत प्रसिद्ध पुस्तक है। शुरू से लेकर अब तक, कोई तीन सौ वर्षों में, जितने गुजराती कवि हुए हैं उन सबकी अच्छी-अच्छी कविताओं का संग्रह इसमें है। यह ग्रन्थ बड़ी-बड़ी सात जिल्दों में समाप्त हुआ है। सुप्रसिद्ध महात्मा टाड के 'राजस्थान' का भी अनुवाद उन्होंने किया। श्रीमद्भागवत, महाभारत, रामायण, कई पुराण, शुक्र-नीति, कलाविलास आदि कितने ही संस्कृत-ग्रन्थों के गद्यपद्या-नुवाद भी इच्छाराम महाशय ने किये। इनके सिवा और भी बहुत सी लौकिक तथा धार्मिक पुस्तकों की रचना उन्होंने की। देसाईजी की पुस्तकें बम्बई प्रान्त में ख़ूब प्रसिद्ध हैं और सब कहीं बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। कहते हैं कि उनकी लिखी हुई सब मिलाकर कोई १२० पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी भाषा बड़ी ही ओजस्विनी और हास्यरस-पूर्ण होती थी; लोग उसे बहुत पसन्द करते थे।

श्रीयुक्त इच्छाराम बड़े ही सच्चरित्र और धर्मात्मा पुरुष थे। उनके धार्मिक विचार पुराने ढङ्ग के थे। हिन्दू-धर्म के वे पक्के अनुयायी थे। यदि हिन्दू-शास्त्रों या आचार-विचारों पर कोई ज़रा भी कटाक्ष करता तो वे उसे सहन न कर सकते और तुरन्त मुँहतोड़ उत्तर देते थे। सामाजिक विषयों में भी

वे पुरानी चाल के कट्टर पक्षपाती थे। समाज-सुधारकों से उनकी कभी न पटती थी। स्त्रियों को शिक्षा न देना, बाल-विवाह, अनमेल विवाह आदि कुरीतियों को यद्यपि वे भी अच्छा न समझते थे तथापि उनको दूर करने के लिए जो उपाय आजकल किये जाते हैं उनसे वे सहमत न थे। देसाईजी के राजनैतिक विचार कांग्रेस से मिलते-जुलते थे। वे न तो राजपुरुषों की बेजा ख़ुशामद करना ही अच्छा समझते थे और न ख़्वाहमख़्वाह गवर्नमेंट से विरोध करना ही उन्हें अच्छा लगता था। जहाँ उनकी यह राय थी कि वर्तमान समय में इस देश के लिए अँगरेज़ी गवर्नमेंट की बड़ी भारी आवश्यकता है वहाँ उनका यह भी मत था कि गवर्नमेंट के अनुचित कार्यों की नेक-नीयती के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक आलोचना करना राजा और प्रजा दोनों के लिए हितकर है।

अब तक जो कुछ हमने लिखा उससे पाठक समझ गये होंगे कि श्रीयुत इच्छाराम सूर्यराम देसाई बड़े ही निडर, साहसी, दृढ़प्रतिज्ञ, स्पष्टवक्ता, परिश्रमी, सदाचारी, उदार, विद्वान् तथा धार्मिक पुरुष थे। उन्होंने अपने पत्र तथा पुस्तकों के द्वारा अपने देश की और अपनी मातृ-भाषा के साहित्य की बड़ी भारी सेवा की।

क्या कभी ऐसा भी समय आवेगा जब हिन्दी बोलनेवाले लोगों में भी कोई 'देसाई' उत्पन्न होगा ?

———

[मार्च १९१३

१०—राय श्रीशचन्द्र वसु बहादुर

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने हिन्दी के शार्ट-हैंड, अर्थात् लघुलिपि-प्रणाली, पर जो पुस्तक प्रकाशित की है उसे जिन्होंने देखा है वे श्रीश बाबू को अवश्य ही जानते होंगे। क्योंकि यह प्रणाली इन्हीं बाबू साहब की कल्पना का फल है। इन प्रान्तों में रहनेवाले सैकड़ों महाशय ऐसे हैं जो मन ही मन अपनी विद्वत्ता पर गर्व करते हैं, पर उनकी विद्वत्ता अँगरेज़ी लिखने, अँगरेज़ी पढ़ने और अँगरेज़ी बोलने ही में ख़र्च होती है। हिन्दी उनके लिए तृणवत् त्याज्य है। इस दशा में वङ्ग-भाषा-भाषी श्रीशचन्द्र वसु के द्वारा हिन्दी की लघु-लेखन-पद्धति का आविष्कार होना हिन्दी के लिए बड़े ही सौभाग्य की बात है, हमारे पश्चिमोत्तर-प्रान्त-वासी हिन्दू विद्वानों के लिए लज्जा की बात न हो तो न सही। जिन्होंने इस क्षिप्र-लेखन-प्रणाली के सम्बन्ध में वसु महोदय का नाम न सुना होगा उन्होंने, यदि वे सामयिक समाचारपत्र पढ़ते रहे होंगे तो, एक और सम्बन्ध में उनका नाम अवश्य ही सुना होगा। हमारा मतलब बनारस के उस बिरादरीवाले मुक़द्दमे से है जिसमें श्रीयुक्त बाबू गोविन्द-दास मुद्दई थे और जिसमें डाक्टर गङ्गानाथ झा और पण्डित शिवकुमार शास्त्री आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने बड़ी ही मार्के की गवाहियाँ दी थीं। यह मुक़द्दमा बनारस में, श्रीश बाबू ही

के इजलास में, हुआ था। इसका जो फ़ैसला बाबू साहब ने लिखा है उससे आपकी विद्वत्ता और हिन्दू धर्म-शास्त्रों के सम्बन्ध में आपकी तत्त्वज्ञता का बहुत ही अच्छा परिचय मिलता है। यह फ़ैसला पुस्तकाकार भी छप गया है। विलायत जाने से जाति और धर्म की हानि होती है, यह जिन लोगों का ख़याल है उन्हें इसे अवश्य ही देखना चाहिए।

इन्हीं धर्मशास्त्रज्ञ, इन्हीं आदर्श न्यायाधीश, इन्हीं हिन्दी-क्षिप्र-लेखन-विधि के आविष्कारक का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त सुन लीजिए।

वसु महोदय के पिता का नाम था—बाबू श्यामाचरण वसु। १८४९ में वे लाहौर गये। वहाँ अमेरिकन मिशन स्कूल के वे हेडमास्टर नियत हुए। कुछ समय बाद उन्होंने यह नौकरी छोड़ दी और डाइरेक्टर आव् पबलिक इन्सट्रक्शन के दफ़्तर में काम करने लगे। सिपाही-विद्रोह के समय वे इसी दफ़्र में हेडक्लार्क थे। उस विपत्ति-काल में आपने ऐसी धीरता और शान्ति से काम किया कि गवर्नमेंट ने आपकी बड़ी प्रशंसा की। पञ्जाब-विश्वविद्यालय की स्थापना की सलाह पहले पहल श्यामाचरण बाबू ही ने दी थी। उनकी सिफ़ारिश को बड़े महत्त्व की चीज़ समझकर शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष, मेजर फुलर, ने भी अपनी सम्मति विश्वविद्यालय की स्थापना के अनुकूल दी। फल यह हुआ कि पञ्जाब के छोटे लाट सर डोनल्ड म्यकलीड ने गवर्नमेंट आव् इंडिया से

लिखा-पढ़ी करके विश्वविद्यालय की स्थापना करा दी। पर यह काम श्यामाचरण बाबू की मृत्यु के अनन्तर हुआ। चालीस ही वर्ष की उम्र में उनका पार्थिव शरीर पञ्चत्व को प्राप्त हो गया।

बाबू श्रीशचन्द्र का जन्म २० मार्च १८६१ को हुआ था। पिता की मृत्यु के समय उनकी उम्र केवल ६ वर्ष की थी। पितृ-हीन हो जाने से उनकी शिक्षा का प्रबन्ध उनकी माता ही को करना पड़ा। वसु बाबू ने लड़कपन ही में तीव्र-बुद्धि होने का परिचय दिया। पन्द्रह ही वर्ष की उम्र में उन्होंने नामवरी के साथ एन्ट्रन्स की परीक्षा पास की। पञ्जाब में उनका नम्बर पहला आया और कलकत्ता-यूनीवर्सिटी में तीसरा। इस उपलक्ष्य में आपको सोने का तमग़ा भी मिला और ५० रुपये की क़ीमत की किताबें भी मिलीं। पहले नम्बर का वज़ीफ़ा तो मिला ही। १८७८ में लाहोर के गवर्नमेंट कालेज से आपने एफ़० ए० पास किया और फिर भी पञ्जाब में आपका नम्बर पहला रहा। १८८१ में, अर्थात् २० वर्ष की उम्र में, बी०ए० पास करके आप उस कालेज में भर्ती हो गये जहाँ अध्यापन-कार्य की शिक्षा दी जाती है। एक ही वर्ष में वहाँ से भी नेकनामी के साथ पास होकर, लाहोर के ज़िला-स्कूल में, आप सेकंड मास्टर हो गये। वहीं आपने क़ानून का अभ्यास किया और १८८३ के जनवरी महीने में इलाहाबाद की हाई-कोर्ट की वकालत की परीक्षा पास कर ली। इसके पहले ही वसु बाबू लाहोर के माडल स्कूल के हेडमास्टर

हो गये थे। जब आप वकालत की परीक्षा में पास हो गये तब वहाँ की हेडमास्टरी छोड़कर आप मेरठ में वकालत करने लगे। तीन वर्ष तक आप मेरठ में वकील रहे। १८८६ में आप इलाहाबाद चले आये।

बाबू श्रीशचन्द्र वसु जिस समय कालेज में शिक्षा पा रहे थे उसी समय आपने अँगरेज़ी का शार्टहैंड लिखना भी सीख लिया था। इलाहाबाद आने पर उसने बड़ा काम दिया। उसकी बदौलत आप हाई-कोर्ट के फ़ैसलों के रिपोर्टर नियत हो गये। इस काम को आपने बड़ी ही योग्यता से किया। एक दफ़े आपने मिसेज़ एनी बेजेंट (हिन्दी अख़बारों की "बसन्ती बीबी") की वक्तृता को इस सफ़ाई और इस शुद्धता से शार्टहैंड में लिख लिया कि एनी बेजेंट देखकर दङ्ग रह गईं। जब उसकी कापी, अँगरेज़ी में, उनके सामने पेश की गई तब वे बे-तहाशा बोल उठीं—मेरी वक्तृताओं की रिपोर्टें लन्दन के बड़े-बड़े शार्टहैंड लिखनेवाले रिपोर्टरों ने लिखी हैं। पर वसु बाबू के सदृश अच्छी और अत्यल्प अशुद्धि-पूर्ण रिपोर्ट उन लोगों से भी लिखते नहीं बनी। वसु बाबू की यही आदत है कि जिस विषय को वे लेते हैं उसका चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं रहते। शार्टहैंड लिखना सीखा तो उसमें इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि बड़े-बड़े रिपोर्टरों तक के कान काटने लगे।

वसु महाशय की वकालत जब ख़ूब चल निकली तब उन्हें हिन्दू-धर्म-शास्त्र की पेचीदा बातें जानने की इच्छा हुई; क्योंकि

दायभाग आदि से सम्बन्ध रखनेवाले मुकद्दमों में 'मिताक्षरा' आदि स्मृति-ग्रन्थों के ज्ञान की बड़ी ज़रूरत पड़ती है। अतएव उन्होंने संस्कृत-व्याकरण का अध्ययन आरम्भ कर दिया। इसमें उन्होंने ऐसा परिश्रम किया कि बहुत ही थोड़े समय में वे पाणिनीय व्याकरण के पण्डित हो गये। तब उन्होंने अपने व्याकरण-ज्ञान से उन लोगों को भी लाभ पहुँचाने का विचार किया जिनके लिए केवल अँगरेज़ी भाषा के द्वारा ही इस शास्त्र के सीखने में सुभीता हो सकता है। उन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी का अनुवाद, टीका-टिप्पणी सहित, करना आरम्भ कर दिया और १८९१ ईसवी में उसके प्रथमाध्याय का अनुवाद प्रकाशित भी करा दिया। इस अनुवाद को देखने का सौभाग्य हमें कभी प्राप्त नहीं हुआ। अतएव इसके विषय में हम अपनी निज की सम्मति नहीं दे सकते—और वसु महाशय के सदृश विख्यात विद्वान् के लेख के विषय में हमारी सम्मति का मूल्य ही कितना हो सकता है—तथापि, सुनते हैं, संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों ने आपके इस अनुवाद की बड़ी प्रशंसा की है। अध्यापक मोक्षमूलर तो उसे देखकर लोटपोट हो गये। उन्होंने यहाँ तक लिखा कि यदि यह अनुवाद मुझे ४० वर्ष पहले मिल जाता तो संस्कृत-व्याकरण सीखने के लिए मुझे जो सरतोड़ परिश्रम करना पड़ा था उसकी मात्रा बहुत ही कम हो जाती।

वकालत भी करना और पाणिनीय व्याकरण का अनुवाद भी करना सहल काम न था। जब वसु महाशय ने देखा कि

दो में से एक ही हो सकता है, दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते, तब उन्होंने वकालत छोड़ दी। आपकी विद्याभिरुचि को तो देखिए। रुपये को आपने कुछ न समझा; साहित्य-सेवा और लोकोपकार को बहुत कुछ। आपकी इस लोक-हितैषणा और विद्याव्यासङ्ग को देखकर गवर्नमेंट ने आपको दूसरे दरजे का मुन्सिफ़ मुक़र्रर करके, १८९२ में, ग़ाज़ीपुर भेज दिया। वहाँ आप पाणिनि-प्रचार के काम में लगे तो रहे, पर समय कम मिला। इससे अनुवाद का काम बहुत धीरे-धीरे होता रहा। सौभाग्य से, १८९६ में, आपकी बदली बनारस को हो गई। वहाँ आपको अधिक अवकाश मिलने लगा। अतएव उसके दो ही वर्ष बाद, अर्थात् १८९८ में, आपने अनुवाद-कार्य की समाप्ति कर दी और पाणिनीय व्याकरण का अँगरेज़ी अनुवाद छपाकर आपने प्रकाशित भी कर दिया। आपका यह अनुवाद यूरोप के विद्वानों को बहुत पसन्द आया। यहाँ तक कि उसका कुछ अंश लन्दन-विश्वविद्यालय की एम०ए० कक्षा में पाठ्यपुस्तक निर्दिष्ट हो गया। इससे बढ़कर उसका और क्या आदर हो सकता था? आपने इस ग्रन्थ में मूल सूत्र और वृत्ति देकर, काशिका के आधार पर, अँगरेज़ी-अनुवाद और व्याख्या लिखी है। इसका मूल्य ४५ रुपया है।

इसके बाद श्रीश बाबू ने भट्टोजी दीक्षित की 'सिद्धान्त-कौमुदी' का भी अनुवाद अँगरेज़ी में किया। यह ग्रन्थ तीन भागों में प्रकाशित हुआ। इसका भी मूल्य ४५ रुपया है।

राय श्रीशचन्द्र वसु बहादुर

श्रीयुत वसु महोदय संस्कृत के उत्तम वैयाकरण ही नहीं, वेद-वेदाङ्ग, स्मृति, दर्शन-शास्त्र और तन्त्रों तक के अच्छे ज्ञाता हैं। हिन्दू-धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली जो दो पुस्तकें लिखकर आपने प्रकाशित की हैं उनसे इन शास्त्रों में आपकी पारदर्शिता का अच्छा परिचय मिलता है। इन पुस्तकों के नाम हैं—(१) Catechism of Hinduism और (२) Daily Practices of the Hindus.

बाबू साहब संस्कृत और अँगरेज़ी के सिवा हेब्रू, ग्रीक, लैटिन, फ़्रेञ्च और जर्मन भाषायें भी जानते हैं। यही नहीं, आप अरबी और फ़ारसी के भी बहुत अच्छे ज्ञाता हैं। जिस समय आप ग़ाज़ीपुर में मुन्सिफ़ थे उस समय आपकी अदालत में मुसलमानों ने एक मुक़द्दमा दायर किया और इस बात का फ़ैसिला चाहा कि वहाबी लोग सुन्नियों के साथ एक ही मसजिद में नमाज़ पढ़ सकते हैं या नहीं। इसके लिए आपने मूल अरबी में मुसलमानों की सैकड़ों धर्म्म-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ीं। जो यहाँ नहीं मिल सकीं उन्हें अरब, मिश्र, तुर्की और फ़ारस तक से मँगाया। इस तैयारी में कोई एक वर्ष लगा। फिर आपने जो फ़ैसिला लिखा उसे पढ़कर मुसलमानों के बड़े-बड़े धर्म्माध्यक्षों तक ने दाँत तले उँगली दबाई। यह तो आपके मुसलमानी धर्म-शास्त्र के ज्ञान की बात हुई। हिन्दू-धर्म-शास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले आपके व्यापक ज्ञान का प्रमाण काशी का वह मुक़द्दमा है जिसका उल्लेख पहले ही ऊपर किया जा चुका है।

श्रीश बाबू के सहोदर, मेजर वामनदास वसु, एम० डी०, फ़ौज में सर्जन थे। आपकी विद्याभिरुचि और स्वदेशप्रीति प्रशंसनीय है। हमारे कतिपय अँगरेज़ीदाँ वकीलों और बैरिस्टरों की तरह, आप, "I. M. S." होकर भी, अपनी मातृभाषा से घृणा नहीं करते; उलटा उसका आदर करते हैं। आपने बँगला में पुस्तकें तक लिखी हैं। आपने अब पेन्शन ले ली है और इलाहाबाद में रहते हैं। वहाँ आप अपने "पाणिनि-आफ़िस" से "Sacred Books of the East" नामक एक पुस्तक-मालिका, अपने भाई श्रीयुक्त श्रीशचन्द्रजी वसु की सलाह से, निकालते हैं। इस मालिका में आज तक हिन्दुओं के अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुवाद, टीका-टिप्पणी सहित, अँगरेज़ी में निकल चुके हैं और बराबर निकलते जाते हैं। इसमें श्रीश बाबू के किये हुए ईश, केन, कठ आदि सात-आठ उपनिषदों के अनुवाद, माधवाचार्य की विवृति के अनुवाद सहित, प्रकाशित हो चुके हैं। वेदान्त-सूत्रों और याज्ञवल्क्य-स्मृति की प्रमिताक्षरा नामक टीका के अनुवाद भी, श्रीशचन्द्र बाबू के किये हुए निकल चुके हैं।

श्रीश बाबू ने शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, योग-दर्शन आदि पर भी विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध लिखे हैं। आप थियासफ़िस्ट हैं। अतएव थियासफ़ी पर भी आपने दो-एक पुस्तकें लिखी हैं।

जो लोग अनेक भाषायें जानते हैं और अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं वे ऐसी-वैसी पुस्तकें नहीं लिखते। क़िस्से-कहानियों और हँसने-हँसानेवाली बातों से वे कोसों दूर भागते हैं।

परन्तु श्रीश बाबू ऐसे विद्वान् नहीं। उन्होंने "शेख़चिल्ली" की कहानियाँ अँगरेज़ी में लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि यदि वे चाहें तो एक नये ही सहस्र-रजनी-चरित्र की रचना कर सकते हैं। आपकी ये कहानियाँ बड़ी ही मनोरञ्जक हैं। रिव्यू आव् रिव्यूज़ के सम्पादक, स्टीड साहब, तक ने इन्हें पढ़कर श्रीश बाबू की प्रशंसा की है। इनका अनुवाद बँगला में भी हो गया है। इंडियन प्रेस ने भी इनका हिन्दी-अनुवाद कराकर प्रकाशित किया है। इस नोट के लेखक ने कई भिन्न भाषाओं की मासिक पुस्तकों में, इस पुस्तक की कहानियों के चोरी से किये गये अनुवाद छपे हुए देखे हैं। एक पुस्तक के सम्पादक ने तो यहाँ तक ढिठाई की थी कि इसकी "बनिया और जाट" वाली कहानी को यह कहकर प्रकाशित किया था कि इसे उसने मदरास-प्रान्त से प्राप्त किया है। जब आपको श्रीश बाबू की पुस्तक का पता बताया गया तब आप चुप्पी साध गये।

श्रीश बाबू की योग्यता से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने उन्हें रायबहादुर का ख़िताब दिया है और इलाहाबाद-विश्वविद्यालय का फ़ेलो भी नियत किया है। मुन्सिफ़ से आप सब-जज हुए थे। अब, हाल ही में, आपको सेशन जज का पद मिला है। इस समय आप गोरखपुर की जजी का काम करते हैं। आशा है, गवर्नमेंट आपको हाई-कोर्ट का जज बनावेगी।—

रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन।

[मई १९१३

११—रायबहादुर पण्डित परमानन्द चतुर्वेदी, बी० ए०

और अनेक व्यसनों में लिप्त रहनेवाले तो हज़ारों क्या लाखों आदमी भारतवर्ष के प्रान्त-प्रान्त में वर्तमान हैं; पर विद्याव्यसनी लोगों की यहाँ बड़ी कमी है। ढूँढ़ने से कहीं कोई इक्का-दुक्का मिलता है, जो एकमात्र ज्ञान-सम्पादन के इरादे से विद्याध्ययन और पुस्तकावलोकन करता हो। चार पैसे पैदा करने ही के इरादे से पढ़ना-लिखना सीखने और पैसे की आमदनी का द्वार खुल जाने पर पुस्तक हाथ से रख देनेवालों ही की यहाँ अधिकता है। रायबहादुर पण्डित परमानन्द चतुर्वेदी ऐसे लोगों में न थे। उन्होंने आमरण केवल ज्ञान-सम्पादन के लिए ही विद्याध्ययन किया और अपनी कमाई का अधिकांश केवल पुस्तक-संग्रह में लगा दिया। दुःख की बात है कि गत २५ जून को आपका देहान्त हो गया। आपके शोक में आपके छोटे भाई, पण्डित रामदयालुजी, ने भी उसके पन्द्रह ही दिन बाद शरीर छोड़ दिया।

पण्डितजी का जन्म संवत् १८०७ की माघ बदी चौथ को, क़सबा क़ायमगंज, ज़िला फ़र्रुख़ाबाद, में हुआ था। आप पण्डित कन्हईलालजी चतुर्वेदी के दूसरे पुत्र थे। उस

समय पढ़ने-लिखने का वैसा प्रचार न था जैसा आजकल है। इस कारण आपकी भी शिक्षा का प्रबन्ध न हो सका। परन्तु जो होनहार होते हैं वे स्वयं ही सब कुछ कर लेते हैं। आपने स्वयं ही तहसीली स्कूल में विद्याभ्यास आरम्भ किया और बहुत शीघ्र वहाँ की पढ़ाई समाप्त कर डाली। बाल्यावस्था ही से पुस्तकावलोकन से आपको प्रेम था। हिन्दी और उर्दू की जितनी किताबें, जिस प्रकार, जहाँ से मिल सकीं, सब आपने पढ़ डालीं। जब आप तहसीली स्कूल में पढ़ते थे तब छपे हुए नक़शे बहुत कम मिलते थे। इससे आपने हिन्दुस्तान का एक नक़शा अपने ही हाथ से ऐसी उत्तमता से बनाया और उसमें ऐसे उत्तम रङ्ग भरे कि मदरसों के इन्सपेक्टर उसे देखकर दङ्ग रह गये। वह नक़शा अब तक विद्यमान है और हमने स्वयं उसे देखा है। इन्सपेक्टर साहब ने ख़ुश होकर इस उपलक्ष्य में आपको ३००) पुरस्कार में दिये।

तहसीली मदरसे की पढ़ाई समाप्त हो चुकने पर आप पढ़ने का विचार छोड़ चुके थे। परन्तु आपके एक सहपाठी, जो मैनपुरी में अँगरेज़ी पढ़ने चले गये थे, किसी छुट्टी में घर आये। उनसे और आपसे परस्पर बातचीत हुई। फल यह हुआ कि आपको भी अँगरेज़ी पढ़ने की उत्तेजना मिली। आप भी मैनपुरी चले गये और अँगरेज़ी आरम्भ कर दी। अत्यन्त कष्ट उठाकर आठवें दरजे तक आपने वहाँ पढ़ा। फिर आप आगरे चले गये। १८७१ में आपने कलकत्ता-

विश्वविद्यालय की एंट्रेंस परीक्षा पास की और युक्तप्रान्त में आपका पहला नम्बर रहा। इसलिए आपको ५) वज़ीफ़ा मिलने लगा। दो वर्ष बाद आपने एफ़० ए० की परीक्षा भी उसी तरह पास की और १२) वज़ीफ़ा पाने लगे। के० डायटन साहब उस समय आगरा-कालेज के प्रिंसिपल थे। वे आपका विद्यानुराग देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और १८) माहवार स्वयं देने लगे। एफ़० ए० परीक्षा पास करने के बाद परमानन्दजी के पिता का देहान्त हो गया और घर का सारा भार आप ही पर आ पड़ा; क्योंकि आपके दो छोटे भाई, पण्डित देवीदयाल और पण्डित रामदयाल, उस समय बहुत छोटे थे। ख़ैर किसी तरह, १८७५ में, आपने बी० ए० की भी परीक्षा पास कर ली।

कालेज छोड़कर पण्डित परमानन्दजी ने सेंट जान्स कालेज, आगरे, में नौकरी कर ली। वहाँ वे कोई एक साल रहे। फिर आप नवगाँव (बुँदेलखण्ड) के स्कूल में हेडमास्टर होकर चले गये। परन्तु वहाँ कुछ झगड़ा हो जाने से आप चरखारी गये और कोई पाँच वर्ष तक वहाँ हेडमास्टर रहे। वहाँ आपके एक बड़े होनहार पुत्र का देहान्त हो गया। इससे वहाँ आप अधिक न रह सके। वहाँ से आप छत्रपुर गये और कुछ समय तक वहाँ भी रहे। उसके बाद आप सिहोर के पोलिटिकल एजंट के दफ़्तर में मीरमुंशी हो गये। इस पद पर आपने ९ वर्ष काम किया। वहीं रहकर आपने विशेष

विद्याध्ययन किया और अपने पुस्तकालय की जड़ डाली। वहाँ का काम आपको किसी कारण छोड़ना पड़ा। तब, १८९४ ईसवी में, आप रियासत झालावाड़ में महाराज-राना ज़ालिमसिंह के दीवान हुए।

१८९६ में महाराज-राना ज़ालिमसिंह गद्दी से उतारे गये, और आधी रियासत कोटे में मिला दी गई। उस समय झालावाड़ की रियासत में एक प्रकार का विप्लव सा हो रहा था। ऐसे समय में आपने बड़ी ही योग्यता से काम किया। उसी समय आपके दूसरे लड़के का, जो बी० ए० की परीक्षा देनेवाला था, देहान्त हो गया। तथापि आप दृढ़तापूर्वक काम करते ही रहे। महाराज-राना ज़ालिमसिंह के बाद, महाराज-राना भवानीसिंहजी गद्दी पर बिठाये गये। तब आप बदस्तूर इनके भी दीवान बने रहे।

संवत् १९५६ के घोर दुर्भिक्ष में दीवान परमानन्दजी ने बाहर से ग़ल्ला मँगाकर झालावाड़ में ऐसा अच्छा प्रबन्ध किया कि अकाल का बहुत ही कम कष्ट लोगों को सहना पड़ा। उस प्रबन्ध से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने आपको रायबहादुर बनाया। अपने समय में आपने रियासत की तमाम अदालतों में हिन्दी का प्रचार किया; अँगरेज़ी सिक्का चलाया; सर्वसाधारण के लिए एक पुस्तकालय खोला; बड़े-बड़े तालाब खुदवाये; लड़कियों के मदरसे भी खोल दिये। सारांश यह कि झालावाड़ की रियासत को आपने बहुत उन्नत कर दिया।

सन् १९१३ ईसवी में गवर्नमेंट ने आपको "दीवान बहादुर" की पदवी से विभूषित किया।

चतुर्वेदीजी पर वर्तमान महाराज-राना साहब का पूर्ण विश्वास था। वे उनकी योग्यता, सुप्रबन्ध कौशल और नीति-नैपुण्य पर बहुत प्रसन्न रहे। इसी कारण राज्य का सारा भार उन्हीं पर उन्होंने छोड़कर विलायत की सैर की। झाला-वाड़ में पण्डित परमानन्दजी का वेतन आठ-नौ सौ रुपये मासिक तक पहुँच गया था।

पण्डित परमानन्दजी बड़े विद्या-प्रेमी थे। संस्कृत आप बहुत ही अच्छी जानते थे। बँगला, उर्दू, फ़ारसी और अरबी में भी आपकी गति थी। फ्रेञ्च, लैटिन और जर्मन भाषायें भी आप कुछ-कुछ जानते थे। विद्याव्यासङ्ग और पुस्तक-प्रणयन में लगे हुए लोगों के आप अकारण-बन्धु थे। इस नोट के लेखक पर बिना पूर्व-परिचय और प्रत्यक्ष जान-पहचान के, आपकी बड़ी ही कृपा थी। आपके पत्रों का जो संग्रह हमारे पास है उसके प्रत्येक पत्र से आपके विद्या-प्रेम, औदार्य और ज्ञान-पिपासा की धारा सी बहती है। 'सरस्वती' को आप ध्यान से पढ़ते थे। कभी-कभी उसमें प्रकाशित बातों की समालोचना भी लिख भेजते थे। आप अपनी ३१ अगस्त १९०७ की चिट्ठी में लिखते हैं—

"शाकटायन की पुस्तक देखने से पाया जाता है कि इसके कर्त्ता शाकटायन पाणिनि और कात्यायन के बाद हुए। जिन

शाकटायन का नाम अष्टाध्यायी में आया है वे कोई दूसरे शाकटायन होंगे। × × × × कात्यायन के वार्तिकों का विषय इन शाकटायन के व्याकरण में सूत्रबद्ध है। यदि इनको पाणिनि से प्राचीन मानें तो इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि पाणिनि ने जान-बूझकर अपने सूत्रों को नाक़िस बनाया। × × × × शाकटायन का पाणिनि से पहले होना तो निर्विवाद है। बहस तो सिर्फ़ इसमें है कि व्याकरण की जो पुस्तक हाल में छपी है उसके कर्त्ता वही शाकटायन हैं या कोई दूसरे, जो पाणिनि के बाद हुए हैं। मेरा ख़याल तो यही है कि यह व्याकरण, जो इस समय छपा है, पाणिनि के क्या, बल्कि कात्यायन के भी बाद लिखा गया है। Encyclopædia Britannica के लेखक ने भी यही कहा है—

"This has been proved to be the production of a modern Jain writer."

हमने एक बार हरद्वार से आपको पत्र भेजा। उसके उत्तर में आपने लिखा—

"आपकी चिट्ठी में हरद्वार और गङ्गाजी का हाल पढ़कर मेघदूत का यह श्लोक याद आ गया—

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥"

व्याकरण और दर्शन-शास्त्रों के गहन से गहन विषयों के आप उत्तम ज्ञाता थे। साथ ही काव्यों के भी बड़े प्रेमी और रसिक थे। 'नैषधचरित' के सदृश क्लिष्ट काव्य के सर्ग के सर्ग आपको कण्ठाग्र थे। पर नाम आप न चाहते थे। गुमनाम रहना ही आपको पसन्द था। हमारे बहुत इसरार करने पर भी आपने अपने विषय में एक सतर भी 'सरस्वती' में लिखने की इजाज़त न दी। फ़ोटो तक उतारने से आपको नफ़रत थी। इसी से आपका कोई अच्छा सा फ़ोटो नहीं मिल सका।

चतुर्वेदीजी चाहते थे कि हर्बर्ट स्पेन्सर की तथा विलायत के अन्यान्य नामी ग्रन्थकारों की पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में हो जाय। अनुवाद-प्रकाशन का सारा ख़र्च आप देने को तैयार थे। अनुवादकों को काफ़ी पुरस्कार भी आप देना चाहते थे। इस सम्बन्ध में हमने और उन्होंने भी बहुत चेष्टा की। पर हिन्दी के दुर्भाग्य से कोई सुयोग्य अनुवादक न मिला। हमारे कई एक मित्रों तक ने यह काम करने की अपेक्षा गप्पें हाँकते हुए समय नष्ट करना ही अधिक आवश्यक और अधिक उपयोगी व्यवसाय समझा।

पण्डित परमानन्दजी ने अपनी जन्मभूमि क़ायमगञ्ज में एक बड़े ही महत्व का पुस्तकालय स्थापित किया है। उसमें संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी, उर्दू, अँगरेज़ी और फ्रेञ्च भाषाओं के १५००० ग्रन्थों का अपूर्व संग्रह है। ऐसा चुना हुआ

संग्रह कलकत्ते की इम्पोरियल लाइब्रेरी के सिवा हमने अन्यत्र नहीं देखा। उसमें पुरातत्त्व-सम्बन्धी ग्रन्थों और सामयिक पुस्तकों का सङ्ग्रह बड़े ही महत्व का है। रायल एशियाटिक सोसायटी और एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल के पुराने से पुराने जरनल, सैकड़ों रुपये ख़र्च करके, आपने बड़े ही प्रयत्न से एकत्र किये। सेंटपिटर्सबर्ग (वर्त्तमान पेट्रोग्राड) में प्रकाशित संस्कृत-कोश की कापियाँ अब नहीं मिलतीं। पर बहुत ख़र्च करके उसकी भी एक कापी, रूस से मँगाकर, आपने अपने पुस्तकालय में रक्खी। यह पुस्तकालय इन प्रान्तों में एक अद्भुत वस्तु है। चतुर्वेदीजी ने अपनी कमाई का विशेषांश इसी में लगा दिया। इसके लिए एक सुन्दर इमारत भी, अपने मकान ही के पास, आपने बनवा दी। उसी में यह पुस्तकालय है। अपने पिता के नाम पर इसका नाम आपने—"कन्हईलाल-पुस्तकालय"—रक्खा।

अन्य भाषाओं का उत्तम ज्ञान रखने पर भी पण्डितजी हिन्दी और हिन्दी की पुस्तकों के भी प्रेमी थे। आप सदा हिन्दी ही में चिट्ठी लिखते थे। आपका हिन्दी-प्रेम ऐसा था कि कोई अच्छी पुस्तक हिन्दी में निकली नहीं कि आपने झट उसे मँगाया नहीं। हमसे बहुधा आप इस विषय में पूछ-पाछ किया करते थे और उपयोगी पुस्तकों का नाम मालूम होने पर तुरन्त उन्हें मँगा लेते थे। कोई महीना न जाता था जिसमें आप सौ-पचास रुपये की पुस्तकें न मँगाते हों। कलकत्ते

जाने पर तो न मालूम कितना रुपया पुस्तकें ख़रीदने में आप ख़र्च कर देते थे।

झालावाड़ के महाराज-राना बहादुर ने अपने निज के पुस्तकालय का नाम, चतुर्वेदीजी ही के नामानुसार—"परमानन्द-लाइब्रेरी"—रक्खा है।

पण्डित परमानन्दजी के धार्मिक विचार वैसे ही थे जैसे विद्वानों के हुआ करते हैं। धार्म्मिक पक्षपात उनको छू तक न गया था।

पण्डितजी के कोई पुत्र नहीं। उन्होंने अपने भतीजों ही को पुत्रवत् समझा और पढ़ाया-लिखाया। सुनते हैं, महाराज-राना ने उन्हें उदारता-पूर्वक आश्रय देने की कृपा की है।

[नवम्बर १९१४

१२—सिंहल द्वीप के बौद्ध विद्वान् आचार्य्य सुमङ्गल

१९११ ईसवी के एप्रिल में, लङ्का के सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् आचार्य्य श्रीसुमङ्गलजी का देहान्त हो गया। उन पर आक्टोबर १९१२ ईसवी के "आफ़रीकन टाइम्स एंड ओरियंट रिव्यू" नामक मासिक पुस्तक में, कोलम्बो के श्रीयुत ए० सुमेरुसिंहजी का लिखा हुआ, एक सचित्र लेख प्रकाशित हुआ है। पूर्वोक्त पुस्तक के सम्पादक की अनुमति से उसी लेख का आशय नीचे दिया जाता है।

सुमङ्गलजी बौद्ध-धर्म के देदीप्यमान रत्न थे। उन्होंने तलवार के बल या धींगाधींगी से नहीं, किन्तु अपनी योग्यता और विद्वत्ता की आभा से, अपनी सरलता और उच्चाशयता के प्रभाव से, संसार के कठोर से कठोर और उद्दण्ड से उद्दण्ड मनुष्यों के हृदयों पर भी बौद्ध-धर्म्म के दया और क्षमा, प्रेम और सहानुभूति के सिद्धान्तों की महत्ता अङ्कित करके छोड़ी! इसमें सन्देह नहीं कि थोड़े ही से भारतवासी ऐसे निकलेंगे जो सुमङ्गलजी के नाम और धाम से परिचित हों; परन्तु, यथार्थ में, सुमङ्गलजी अप्रसिद्ध पुरुष न थे। संसार की अनेक प्रतिष्ठित सभाओं ने उन्हें अपना माननीय मेम्बर निर्वाचित

किया था। पाश्चात्य देशों के बड़े-बड़े विद्वानों में उनका बड़ा आदर था। स्याम देश के बौद्ध राजा और बड़े-बड़े धनाढ्य उनके चरणों पर अपना सिर रखते थे।

सुमङ्गलजी का जन्म १८२७ ईसवी में हुआ था। उनके जन्म के थोड़े ही समय पीछे लङ्का पर अँगरेज़ों का आधिपत्य स्थापित हुआ। उनका असली नाम था अभयवीर गुणवर्द्धन। सुमङ्गल नाम तो उस समय पड़ा जब वे साधु हुए।

चार वर्ष की उम्र में वे अपने गाँव की पाठशाला में सिंहली भाषा पढ़ने लगे। बचपन ही में उन्होंने अपनी कुशाग्र-बुद्धि का परिचय दिया। लोग उनकी चतुरता और बुद्धिमत्ता को देखकर दङ्ग रह जाते थे। उनका एक भाई उनसे बहुत बड़ा था। बहुत पहले से वह पढ़ता भी था। जिस समय सुमङ्गल ने पाठशाला में प्रवेश किया उस समय वह कितनी ही पुस्तकें समाप्त कर चुका था। पर थोड़े ही दिनों में सुमङ्गल पढ़ने में केवल उसके बराबर ही न हो गये, किन्तु उससे आगे भी बढ़ गये। नौ वर्ष की उम्र में सुमङ्गल ने सिंहली भाषा का पाठ्य-क्रम समाप्त कर डाला। तब उन्होंने अँगरेज़ी पढ़ना चाहा; परन्तु एक घटना ऐसी हो गई जिससे उन्हें, उतनी ही छोटी उम्र में, घर-द्वार छोड़कर एक बौद्ध-मठ में प्रवेश करना पड़ा।

उन्हीं दिनों उनके माता-पिता ने एक ज्योतिषी को उनका जन्म-पत्र दिखाया। ज्योतिषी ने बताया कि सुमङ्गल अधिक

काल तक जीवित न रहेंगे। उसकी इस भविष्यद्वाणी से सुमङ्गल के माता-पिता के हृदयों पर बड़ी चोट लगी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि बालक सुमङ्गल का प्रवेश बौद्ध-मठ में करा ही देना चाहिए। कदाचित् इस पुण्यकार्य से वे दीर्घजीवी हो सकें। बालक सुमङ्गल साधु बनने को तैयार न थे; परन्तु, अन्त में, उन्हें अपने माता-पिता की आज्ञा माननी ही पड़ी।

सुमङ्गल के गुरु का नाम था अनुगामी रेवतक थीरो। साधु-दीक्षा लेने पर सुमङ्गल का पूरा नाम हुआ हिक्कादुआ श्रीसुमङ्गल। मठ में प्रवेश करते ही उन्होंने अपने गुरु से पाली भाषा पढ़ना आरम्भ किया। जो अवकाश मिलता उसमें वे अपने गुरु के कामों की देख-भाल भी करते। बारह ही वर्ष की उम्र में वे पाली अच्छी तरह लिखने-पढ़ने लगे। तब उन्होंने संस्कृत पढ़ना चाहा। उस समय, लङ्का में, पाली की कुछ चर्चा भी थी, क्योंकि लङ्का-निवासी अधिकतर बौद्ध हैं और बौद्ध-धर्म्म का पाली से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु संस्कृत और संस्कृतज्ञों का तो वहाँ बहुत ही टोटा था।

सौभाग्यवश, उस समय, काशिनाथ नाम के एक संस्कृत-विद्वान् दक्षिणी भारत से लङ्का के कोलम्बो नगर में आये। सुमङ्गल उनके पास सबसे पहले पहुँचे। उनके शिष्यों में सुमङ्गल ही सबसे अधिक तेज़ भी थे। संस्कृत पढ़ने में सुमङ्गल को मानसिक परिश्रम तो करना ही पड़ता था; परन्तु उन्हें तदर्थ जो शारीरिक परिश्रम करना पड़ता था उस पर विचार

करके यही कहना पड़ता है कि वर्तमान काल में ऐसे विद्या-प्रेमी बहुत ही थोड़े निकलेंगे जो विद्योपार्जन के लिए इतना परिश्रम करने के लिए तैयार हों। उनके शिक्षक काशिनाथ कोलम्बो में रहते थे, पर सुमङ्गल का मठ कोलम्बो से आठ मील दूर था। परन्तु इस दूरी की कुछ भी परवा न करके वे रोज़ मठ से कोलम्बो पढ़ने जाते थे और सन्ध्या को अपने घर लौट जाते थे। इस प्रकार, संस्कृत पढ़ने के लिए, वर्षों तक, वे प्रतिदिन कोलम्बो से मठ तक, और मठ से कोलम्बो तक सोलह मील पैदल चलते थे।

शिक्षा समाप्त होने पर सुमङ्गलजी अपने गुरु की पाठशाला का काम देखने लगे। दो वर्ष के बाद वे अपने गाँव गये। वहाँ उन्होंने एक विद्यालय स्थापित किया और सात वर्ष तक उसमें पढ़ाते रहे। इसके अनन्तर वे लङ्का के भिन्न-भिन्न नगरों में विद्यादान और उपदेश-कार्य्य करते फिरे। १८६६ ईसवी में उनकी विद्वत्ता और शुद्ध-चरित्रता पर मोहित होकर सिंहली बौद्धों ने उन्हें आदम-शिखर (Adams Peak) के प्रसिद्ध मठ का प्रधान महन्त निर्वाचित किया। तब से वे अपना सारा समय बौद्ध-धर्म्म तथा पूर्वी भाषाओं के प्रचार में लगाने लगे।

१८७३ ईसवी में उन्होंने, कोलम्बो में, विद्योदय नाम का एक बड़ा कालेज स्थापित किया। मृत्यु तक वे इस कालेज के अध्यक्ष रहे। उनका कालेज प्रसिद्ध भी ख़ूब हुआ। भारत, ब्रह्म-देश, स्याम, कम्बोडिया, चीन और जापान तक के विद्यार्थी

उसमें पढ़ने के लिए आने लगे और अब भी बराबर आते हैं। उसमें संस्कृत, पाली और सिंहली भाषाओं के साहित्य के अतिरिक्त ज्योतिष और आयुर्वेद भी पढ़ाया जाता है। कोई और कहीं का भी विद्यार्थी क्यों न हो, वह उसमें पढ़ सकता है। जाति, वर्ण या धर्म्म का कुछ भी ख़याल नहीं किया जाता। गवर्नमेंट भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर चुकी है और एक हज़ार रुपये वार्षिक सहायता देती है।

विद्या और धर्म्म का प्रचार करके ही सुमङ्गलजी चुप नहीं बैठे। उन्होंने पुस्तक-रचना भी की। बौद्धों के महा-वंश नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का अनुवाद उन्होंने, पण्डित बलवन्त-देव की सहायता लेकर, पाली से सिंहली भाषा में किया। बालावतार-टीका और सिद्धान्त-संग्रह पर भाष्य भी उन्होंने लिखा। इनके सिवा और भी कितने ही उपयोगी ग्रन्थ उन्होंने लिखे और कितनी ही टीका-टिप्पणियाँ बनाईं।

सुमङ्गलजी की स्मरण-शक्ति ग़ज़ब की थी। विद्यार्थि-दशा में उन्होंने जो कुछ पढ़ा था सो तो पढ़ा ही था। जब वे दूसरों को पढ़ाते और अन्य उपकारी कामों में लगे रहते थे तब भी उन्होंने अपना अध्ययन जारी रक्खा था। अपनी धारणा-शक्ति और दृढ़ता के बल से वे भिन्न-भिन्न देशों की बारह भाषाओं के ज्ञाता हो गये। अँगरेज़ी, फ़्रेंच, पोर्चुगीज़, ब्रह्मी, तैलङ्गी, तामील और हिन्दुस्तानी भाषाओं को वे अच्छी तरह लिख, पढ़ और बोल सकते थे। वे गणित-शास्त्र के भी

अच्छे ज्ञाता थे। अङ्क-गणित, रेखा-गणित, बीज-गणित, त्रिकोणमिति, माप-विद्या आदि में उनकी यथेष्ट गति थी। आयुर्वेद का भी उन्हें ज्ञान था। शास्त्रार्थ में तो वे एक ही थे। बड़े-बड़े विद्वानों को भी उनके सामने झुकना पड़ता था।

वे बड़े ही सरल-चित्त थे। जो उनसे मिलता उनके शील की प्रशंसा किये बिना न रहता। विदेशों में भी वे बहुत प्रसिद्ध थे। योरप और अमेरिका के बड़े-बड़े विद्वान् उनसे मिलने के इच्छुक रहते। यद्यपि ज्योतिष के नवग्रह उन पर प्रसन्न न थे; तथापि सुमङ्गलजी सदा नीरोग रहे और चौरासी वर्ष की पक्की उम्र में परलोक के प्रवासी बने। केवल लङ्का-वालों ही को नहीं, किन्तु सारे बौद्ध-संसार को उनकी मृत्यु से बड़ी ही क्षति पहुँची। सुमङ्गलजी के मित्रों में सर मानि-यर विलियम्स, अध्यापक रीज़ डेविड्स, कर्नल आलकाट आदि अनेक विद्वानों की गणना है। परलोकवासी स्याम-नरेश ने, अपनी योरप-यात्रा के समय, कोलम्बो में, सुमङ्गलजी को दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया था। कलकत्ते के संस्कृत-कालेज के प्रधानाध्यापक आचार्य्य सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने, कई महीने तक, सुमङ्गलजी के चरणों के पास बैठकर पाली भाषा और बौद्ध-ग्रन्थों का अवलोकन किया है। बनारस के जैन-यशोविजय-पाठशाला के भी कई छात्र सुमङ्गलजी के शिष्य हैं और उनसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा है।

[फ़रवरी १९१५